बच्चन की अन्य रचनाएँ

१. जनगीता (अनुवाद)
२. ओथेलो (अनुवाद)
३. आरती और अंगारे
४. मैकबेथ (अनुवाद)
५. धार के इधर-उधर
६. प्रणय पत्रिका
७. मिलन यामिनी
८. खादी के फूल
९. सूत की माला
१०. बंगाल का काल
११. हलाहल
१२. सतरंगिनी
१३. आकुल अंतर
१४. एकांत संगीत
१५. निशा निमंत्रण
१६. मधुकलश
१७. मधुबाला
१८. मधुशाला
१९. खैयाम की मधुशाला (अनुवाद)
२०. प्रारंभिक रचनाएँ—पहला भाग } —कविताएँ
२१. प्रारंभिक रचनाएँ—दूसरा भाग } —कविताएँ
२२. प्रारंभिक रचनाएँ—तीसरा भाग —कहानियाँ
२३. बच्चन के साथ क्षण भर (संचयन)
२४. सोपान (संकलन)

'मधुशाला' का अंग्रेजी और 'बंगाल का काल' का बँगला अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

बुद्ध और नाचघर

तथा

अन्य कविताएँ

बच्चन

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

मूल्य	:	तीन रुपये (३·००)
प्रथम संस्करण	:	सितम्बर, १९५८
प्रकाशक	:	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक	:	हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

समर्पण

केम्ब्रिज के साथियों—

हमीद अहमद खाँ

(पाकिस्तान)

रनबीर सिंह बावा

रूपचंद साहनी

विश्वनाथ दत्त

और

कमला दत्त

को

अपने पाठकों से

अपनी कविताओं का एक नया संग्रह आपके सामने रख रहा हूँ—'बुद्ध और नाचघर'; यह नाम इस संग्रह का इसलिए दे दिया गया कि इस शीर्षक की इसमें एक कविता है जो अंत में रक्खी गई है, गो मैं यह स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि रचना-क्रम में यह अंतिम कविता नहीं है। शायद 'शैल-विहंगिनी' को छोड़कर यह इसकी सबसे लम्बी कविता भी है और मेरी इस प्रकार की कविताओं में संभवत: इसने पाठकों का ध्यान सबसे अधिक आकर्षित किया है। इसकी रचना मैंने अपने इंग्लैंड-प्रवास के दिनों में की थी और पहले-पहल यह १९५३ में 'नई धारा', पटना, में प्रकाशित हुई थी; इसके पश्चात् कई पत्र-पत्रिकाओं ने इसे उद्धृत किया। प्रसिद्ध कलाविद् और साहित्यकार श्री रायकृष्णदास को यह कविता इतनी रुची कि वे प्रयाग मेरे घर आए और मेरी पत्नी से मेरी हस्तलिखित प्रति माँग ले गए। प्रसंगवश मैं यह बता देना चाहता हूँ कि यह कविता जिस रूप में यहाँ दी गई है, वह वही नहीं जिस रूप में यह सर्वप्रथम लिखी गई थी। मैंने उसमें कुछ सुधार कर दिया है और, स्वाभाविक ही, मेरा विश्वास तो यही है कि इसका वर्तमान रूप अधिक निखरा हुआ है। पहले मैं अपनी कविताओं में, एक बार उनके छप जाने पर, संशोधन नहीं करता था। ईट्स पर रिसर्च करने के बाद मैंने उनकी यह अच्छी या बुरी आदत सीख ली है। वे तो अपनी रचनाओं में संस्करण-दर-संस्करण सुधार करते जाते थे। अब मेरा भी यह स्वभाव हो गया है कि कविताओं को दुहराते समय यदि कोई त्रुटि दिखाई पड़े तो उसे हटा देने, या कोई परिवर्तन सूझ पड़े तो उसे कर देने में मुझे संकोच नहीं होता। ऐसे परिवर्तन यहाँ कई कविताओं में किए गए हैं। ख़ैर, एक बात मैं और कहना चाहूँगा; यह विशुद्ध काव्य-संग्रह है। कहने का मतलब यह है कि इसमें विभिन्न विषयों पर, विभिन्न परिस्थितियों—

मनःस्थितियों में, विभिन्न दृष्टिकोण से लिखी हुई कविताएँ संगृहीत हैं और 'बुद्ध और नाचघर' की छाया-छाप अन्य कविताओं में देखने या खोजने का श्रम व्यर्थ होगा। संग्रह की कविताओं को पढ़ने के पश्चात् शायद आपकी भी यही धारणा होगी कि पुस्तक का यह नाम केवल आकस्मिक एवं सुविधा-परक है और प्रत्येक कविता अपनेआप में स्वतंत्र है। यह और बात है कि किन्हीं कविताओं में किसी प्रकार के साम्य अथवा मैत्री का आभास मिलेगा।

'बुद्ध और नाचघर' की कविताओं में एक बाहरी साम्य यह है कि ये सब-की-सब मुक्त छंद में लिखी गई हैं। कभी इसे 'स्वच्छंद छंद' अथवा 'मुक्त काव्य' भी कहा जाता है। किसी समय छिद्रान्वेषी समालोचकों ने इसे रबर, केचुआ और कँगारू छंद की संज्ञा भी दी थी। 'मुक्त छंद' शब्द का प्रयोग मैंने केवल इस कारण किया है कि ऐसी कविताओं के लिए यह विशेषण प्रचलित हो गया है। ग़लत चीज़ें भी प्रायः प्रचलित हो जाती हैं; और मैंने कहीं पढ़ा था कि शब्द-शास्त्र का नियम यह है कि सर्वसाधारण अगर ग़लत चीज़ों को भी ठीक मान लें तो उन्हें ठीक ही मान लिया जाता है। वैसे 'मुक्त छंद' में मुझे एक प्रकार का विरोधाभास भी दिखाई देता है। मुक्त का अर्थ है स्वच्छंद और छंद का अर्थ है बँधा हुआ (छन्दांसि छादनात्—यास्काचार्य),कविता के संदर्भ में मात्रा, लय और तुक में। स्वच्छंद और बँधा हुआ एक साथ ही कैसे ? संभव है जनसाधारण के मस्तिष्क में इस शब्द को मान्यता देने का एक सूक्ष्म कारण हो। जनता नितांत अकारण कुछ भी नहीं मानती, करती। शायद मुक्त छंद से लोगों को ऐसी कविता का बोध होता है जो अपनी अभिव्यक्ति में तो स्वच्छंद हो पर अपने भाव-विचारों में बँधी। भाव-विचारों में बँधा होना—गँठा होना कविता की बुनियादी आवश्यकता है, चाहे वह कविता महाकाव्य हो, खंडकाव्य हो, गीत हो अथवा मुक्तक। लम्बी कविताओं में भी, भावों-विचारों की विविधता के बावजूद किसी प्रकार की एकता होती ही है। गीतों अथवा मुक्तकों में यह एकता सिमटकर भाव-विचार की उस इकाई का रूप ले लेती है जिसे आप गीत की आत्मा अथवा उसका प्राण कह सकते हैं। कविता के प्रसंग में अभिव्यक्ति की

स्वच्छंदता मेरे लिए निरर्थक शब्द हैं। कविता जब अभिव्यंजन मात्र नहीं, प्रेषण और सहानुभूति (सह + अनुभूति) भी होती है तो उसके भाव-विचार उसकी अभिव्यक्ति को निर्धारित, निरूपित और अनुशासित करते हैं। अभिव्यक्ति में काव्य के अन्य उपकरणों के अतिरिक्त उसका छंद भी सम्मिलित होता है। 'मधुशाला' ने एक प्रकार के छंद का रूप लिया, 'निशा निमंत्रण' ने दूसरे प्रकार का; 'हलाहल' ने एक तीसरे प्रकार का—उसका उपयोग मैं पहले 'खैयाम की मधुशाला' में कर चुका था; और 'मिलन यामिनी' के पहले और तीसरे भाग ने अलग-अलग प्रकार के छंदों का और दूसरे भाग ने विभिन्न प्रकार के छंदों का—कुछ 'सतरंगिनी' में प्रयुक्त और कुछ सर्वथा नवीन। मैंने अपने विद्यार्थी-जीवन में छंदों का अध्ययन तो किया था, पर रचना करते समय मैंने कभी इस पर पूर्व-विचार नहीं किया कि किस छंद का उपयोग किया जाय। मैंने अपने भाव-विचारों को स्वयमेव छंदों का रूप निश्चित करने को छोड़ दिया है। परिणाम कैसा हुआ है, यह आप बताएँ। क्या आप चाहते हैं कि 'मधुशाला' 'हलाहल' के छंद में होती या 'निशा निमंत्रण' 'मिलन यामिनी' के छंदों में होता? यदि नहीं, तो मेरे भाव-विचारों और मेरे छंदों में किसी प्रकार के अनिवार्य संबंध में आपको विश्वास होगा। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, अगर हम भाव-विचार की एकता को सब प्रकार की कविता की आंतरिक आवश्यकता मान लें तो उसके केवल वाह्य रूप के आधार पर मैं प्रस्तुत पुस्तक की रचनाओं को 'विषम लय' की रचनाएँ कहना उचित समझूँगा। पर अपने स्वभाव-वैपम्य से एक नए नाम से आपको क्यों चौंकाऊँ। आगे आपके परिचित 'मुक्त छंद' का ही प्रयोग करूँगा। नाम में क्या धरा है!

तुकांत छंद, जिसकी पंक्तियों में मात्रा और लय की समता हो और अंत में तुक हो। अतुकांत छंद, जिसकी पंक्तियों में मात्रा और लय की समता तो हो, पर तुक न मिलता हो—जिसका उपयोग मैंने 'मैकबेथ' और 'ओथेलो' के अनुवाद में किया है। मुक्त छंद, जिसकी पंक्तियों में मात्रा और लय की समता रूढ़ि न बन गई हो और न तुक पर ही आग्रह हो।

भगवान पाणिनि ने कहा है—"छन्द: पादौ तु वेदस्य" अर्थात् छंद वेद के चरण हैं, उनके बल वह चलता है, आगे बढ़ता है। 'हरिवंश पुराण' में जहाँ वाराह भगवान के विराट रूप का वर्णन किया गया है वहाँ भी उनके चरणों को छंद कहा गया है; एक स्थान पर, छंद ही उनके मार्ग हैं, ऐसा भी है। छंद वास्तव में सब प्रकार की शब्दाभिव्यक्ति के चरण हैं। लय उनकी गति है। तुक को उनका विश्राम कह सकते हैं। पद्य में ही नहीं, गद्य में भी एक प्रकार की लय होती है और विभिन्न लेखकों के गद्य की लय अलग होती है। सेन्ट्सबरी ने अंग्रेज़ी में गद्य की लय पर एक विस्तृत पुस्तक ही लिखी है। हमारी बातचीत में भी लय होती है, हम विभिन्न भावों-विचारों के लिए विभिन्न लयों का उपयोग करते हैं—बिना उसके प्रति सचेत हुए ही।

तुकांत छंद, जैसे भावनाओं का नृत्य है, जिसमें चरण निश्चित लय पर उठते-गिरते और तुक के सम पर पहुँचकर रुक जाते हैं। अतुकांत छंद प्रयोजनार्थ कहीं जाने के समान है। जब तक ध्येय न प्राप्त कर लिया जाय तब तक रुकने की कोई जगह नहीं; बराबर चले जाओ। मुक्त छंद किसी आपाती स्थिति में किसी अज्ञात प्रदेश को पार करना-सा है जहाँ मनुष्य कभी तेज़ चलता है, कभी धीमे; कभी दाएँ देखता है, कभी बाएँ और कभी मुड़कर पीछे। उसे रास्ते की खोज भी करनी होती है, रास्ते पर बढ़ना भी होता है। उसे पता नहीं रहता कि वह कहाँ जा निकलेगा। जीवन भावनाओं का सामंजस्यपूर्ण नर्तन भर नहीं, और न ऐसा स्थान ही जहाँ हर लक्ष्य स्पष्ट दिखलाई देता है, जिसकी ओर आदमी बस अपना क़दम बढ़ाता चला जाय। बहुत सी आपाती स्थितियों का सामना भी यहाँ करना पड़ता है। यदि काव्य जीवन का प्रतिबिम्ब है तो इसमें तुकांत छंद, अतुकान्त छन्द और मुक्त छंद सबकी सार्थकता है।

मुक्त छंद में मेरी पहली रचना थी—'बंगाल का काल', जो सन् १९४३ में लिखी गई थी और सन् १९४६ में प्रकाशित हुई। आपको एक मजे की बात बताऊँ। मैंने कविता लिखनी मुक्त छंद से ही आरंभ की थी। मेरी उम्र चौदह-पंद्रह वर्ष की होगी। उस समय कलकत्ता से निकलने

वाले हिंदी के हास्य रस के पत्र 'मतवाला' की बड़ी धूम थी। खेद है कि हिंदी में हास्य रस का फिर ऐसा पत्र नहीं निकला। उन दिनों 'मतवाला' में श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की कविताएँ मुक्त छंद में प्रकाशित होती थीं। मुझे उस समय न छंद-ज्ञान था, न मात्रा-ज्ञान, पर कविता लिखने की सुगबुगाहट मन में हुआ करती थी। मुक्त छंद की कविता ने जैसे मेरे रास्ते की रुकावटें हटा दीं। जब बिना छंद, बिना सम लय-मात्रा के कविता की जा सकती थी और वह सम्मानपूर्वक पत्रों में छप सकती थी, तो मेरे ही लिए क्यों छंद-मात्रा का ज्ञान जरूरी हो। उस समय छपी हुई हर चीज़ वेदवाक्य के समान प्रामाणिक मालूम होती थी। जो मन में भाव हों, छोटे-बड़े वाक्यों में, ऊपर-नीचे लिखकर व्यक्त कर दिया, बस कविता हो गई। उस समय कविता लिखने को मेरे पास कागज़ भी नहीं होता था। कभी आधा पेज गणित की कापी से फाड़ा, कभी एक पेज इमला की कापी से—कभी कागज़ छोटा, कभी बड़ा, कभी मोटा, कभी पतला। और मेरी कविता और पंक्तियों का आकार-प्रकार मेरे कागज़ के आकार-प्रकार पर निर्भर करता था। कभी-कभी तो महाकवियों की रचनाएँ भी कागज़ की माप से अनुशासित होती हैं। ईट्स ने अपनी वृद्धावस्था में लघु पंक्तियाँ लिखने में अद्वितीय सफलता प्राप्त की थी। इसका एक रहस्य डबलिन में उनके निजी पुस्तकालय में उनकी पांडुलिपियों को देखकर खुला। अपने यौवन में वे रजिस्टर के साइज की मोटी कापियों का उपयोग करते थे। वृद्धावस्था में जब मोटी कापियों का उठाना कठिन था तब वे अपने बिस्तर पर लेटे-लेटे लिखने के लिए छोटी-छोटी नोटबुकों को इस्तेमाल करते थे। छोटी पंक्तियाँ लिखने का क्या एक कारण यह भी नहीं हो सकता कि उनके सामने छोटा कागज़ था? ख़ैर। उन दिनों मैंने दर्जनों कविताएँ लिखी थीं। एक सूत से सबको नत्थी कर लिया था। ख़ास-ख़ास दोस्तों को सुनाता भी था। कविताएँ तो मुझे एक भी याद नहीं, पर उनमें कुछ भाव-चमत्कार था, जिससे मेरे मित्रों को आह्लाद होता था और इससे मेरे अहं को थपकी-सी मिलती थी। यह अनुभव मुझे नहीं भूला है। यह तो अच्छा हुआ कि मुझे छपास

का रोग नहीं लगा था; नहीं तो न जाने किन-किन संपादकों को मेरी रचनाओं से अपनी रद्दी की टोकरी भरनी पड़ती। कुछ दिनों के बाद, पता नहीं क्यों मैंने ऐसी रचनाएँ बंद कर दीं और आगे के मेरे अभ्यास केवल तुकांत छंदों में हुए।

१९२९ से १९४२ तक का मेरा लिखा जो कुछ प्रकाशित हुआ है वह सब तुकांत छंदों में है।

१९४३ के प्रारंभ में बंगाल के अकाल का हृदय-विदारक विवरण पत्रों में आने लगा। बंगाल की दयनीय दशा पर मैं इतना विचलित नहीं हुआ जितना उसकी नपुंसक सहिष्णुता पर जिससे उसने मानवी स्वार्थ-प्रेरित इस दानवी ईति-भीति मण्ट मारकर झेल लिया।

और जब मैंने अपनी व्यग्रता और अपने आवेश को वाणी देने का प्रयत्न किया तो दस-बारह बरस की आदत और अभ्यास के बावजूद छंदों की सारी कड़ियाँ तड़ककर टूट गईं। विषय नया था, उद्भावना नई थी, दृष्टिकोण नया था। मुझे आश्चर्य नहीं हुआ कि मेरी अभिव्यंजना ने एक नया बाना धारण किया।

'बंगाल का काल' को जिसने भी सुना, पसंद किया। तीन वर्ष मैंने इसे यत्र-तत्र मित्र-गोष्ठियों में ही सुनाया—उस दमन-संत्रस्त काल में कौन प्रकाशक इसे छापकर मुसीबत मोल लेता ! मुझे इस बात का संतोष हुआ कि मुक्त छंद में यद्यपि मैंने पहली बार लिखा, तो भी असफल नहीं हुआ। उन्हीं दिनों की एक और समस्या मेरा मानस-मंथन किया करती थी—मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग। इसके विरुद्ध, मैं, 'बंगाल का काल' के समान, एक लंबी कविता लिखना चाहता था। भारत के उस समय के वायसराय लार्ड वैवेल ने एक बार कहा था कि भारत भौगोलिक दृष्टि से एक है और उसका विभाजन नहीं हो सकता। इससे कुछ आशा बँधी थी कि अंग्रेज़ संभवतः पाकिस्तान के निर्माण के लिए सहमत न होंगे। तभी मेरे एक बंगाली मित्र ने बंग-भंग पर रवि बाबू की एक रचना मुझे सुनाई थी, 'विधिर बंधन काटबे तुमि एमन शक्तिमान !' उससे प्रेरणा पाकर मेरी

कल्पना इस प्रकार चली कि भारत की भौगोलिक एकता भी एक प्रकार का विधि-बंधन है जिसे कोई खंडित नहीं कर सकता। मैं यह जानता था कि भारत-विभाजन के लिए जो शक्तियाँ तत्पर हैं, उनके विरुद्ध किसी कवि की पंक्तियाँ नहीं खड़ी हो सकतीं। फिर भी मैंने 'बंगाल का काल' के आकार की मुक्त छंद में एक रचना लिखी। पाकिस्तान बनने पर मैंने उसे नष्ट कर दिया।

१९४४ के बाद से कभी-कभी मेरे मन में इस प्रकार की भावनाएँ उठती थीं, जिन्हें, लगता था, मैं गीतों में नहीं बाँध सकूँगा और मुक्त छंद ही उनके लिए उपयुक्त माध्यम है। पर उनकी संख्या सात-आठ वर्षों में भी सात-आठ के ऊपर नहीं गई।

१९५२ में मैं केम्ब्रिज चला गया। वहाँ डब्ल्यू०बी० ईट्स पर अनुसंधान करने के संबंध में मुझे आधुनिक अंग्रेज़ी कविता का विशेष अध्ययन करना पड़ा। शायद बहुत लोगों की ऐसी धारणा है कि आधुनिक अंग्रेज़ी काव्य सब मुक्त छंद में ही लिखा जा रहा है। बात ऐसी नहीं है, हां यह ज़रूर मानना पड़ेगा कि आधुनिक समय में काव्य के क्षेत्र में अधिक तत्त्वपूर्ण बातें मुक्त छंद के माध्यम से ही व्यक्त की गईं। पर देखते ही देखते पासा पलट गया है और फिर लेखकों की रुचि छंदमय काव्य की ओर बढ़ रही है।

इंग्लैंड में स्वाध्याय से मुझपर यह बात और दृढ़ हुई कि कुछ विषय, कुछ उद्भावनाएँ, कुछ विचार करने की प्रक्रियाएँ ऐसी हैं जो मुक्त छंद में ही प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त की जा सकती हैं। विदेश-प्रवास में मैंने ८-१० मुक्त छंद की कविताएँ लिखीं, जिनमें 'बुद्ध और नाचघर' और 'चोटी की बरफ़' प्रमुख हैं। इनमें से कई सर्वप्रथम मैंने बी० बी० सी० (लंदन) से प्रसारित कीं। पर मैंने लगभग १०० गीत भी लिखे। इस संग्रह की बाक़ी ८-१० कविताएँ मैंने देश वापस आने पर लिखीं—कुछ प्रयाग में, कुछ दिल्ली में। इनमें से 'पपीहा और चील-कौए' की ओर लोगों का ध्यान विशेष आकृष्ट हुआ। यह सर्वप्रथम 'कल्पना' में छपी थी और मैंने इसे दिल्ली रेडियो की एक कवि गोष्ठी में सुनाया भी। इस गोष्ठी की आलोचना

में स्वनामधन्य 'उग्र' जी ने एक लेख दैनिक 'हिंदुस्तान' में लिखा था और उस कविता के बारे में कुछ ऐसी बातें लिख दी थीं कि उसकी ओर लोगों की विशेष जिज्ञासा बढ़ी। इस प्रकार सन् १९४४ से '५७ तक की ये अट्ठाइस कविताएँ, मुक्त छंद की, इस संग्रह में दी जा रही हैं।

कविताओं के साथ मैंने रचना-काल नहीं दिया। वे यहाँ क़रीब-क़रीब रचनाक्रम में रक्खी गई हैं। क़रीब-क़रीब, इसलिए कि बीच-बीच में प्रसंगानुसार उलटफेर भी कर दिया गया है।

रचना की तकनीक पर मैं अपने पाठकों के साथ बातें करना ठीक नहीं समझता। भोजन के लिए बैठे अतिथियों को पाक-शास्त्र पर व्याख्यान देना मेज़बान को नहीं फबता। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ, किन्हीं भाव, विचार एवं कल्पना को व्यक्त करने के पहले मैं इसपर ध्यान नहीं देता कि वह अभिव्यंजना में क्या आकार-प्रकार ले। मैं कथ्य को स्वयं कथन में अवतरित होने के लिए छोड़ देता हूँ। मैं सुरुचिसंपन्न पाठक से प्रत्याशा करूँगा कि वह कथ्य और कथन को देखे और परखे। जहाँ वह एक को दूसरे से अलग न कर सकेगा, जहाँ एक दूसरे का पूरक होगा, जहाँ एक का दूसरे से अनिवार्य संबंध होगा, वहाँ मैं अपने को सफल समझूँगा। वास्तव में काव्य की सफलता इसीमें तो है कि कवि ने जिन भावों को व्यक्त करने के लिए रचना की है, रचना से वही भाव पाठक के मन में जाग सकें। यह तभी संभव हो सकता है जब कथ्य और कथन के बीच अनिवार्यता हो।

इतना विश्वास तो मैं अपने पाठकों को दिलाना ही चाहूँगा कि मुक्त छंद में भी प्रयोग करने की दृष्टि से मैंने ये कविताएँ नहीं लिखी हैं। जैसे 'बंगाल का काल' लिखते समय, वैसे ही इन कविताओं को लिखते समय, मुझे यह अनुभव हुआ कि ये छंदों में नहीं बँध सकेंगी। मेरी छंदबद्ध कविताओं से आप परिचित हैं; दोनों की तुलना कर कारण का पता आप लगा सकते हैं।

काव्य-निर्णय में परंपरा से मान्य कविता की बड़ी महत्ता है। प्रत्येक

युग की नई कविता को काव्य के कुछ ऐसे गुण तो रखने ही पड़ते हैं कि परंपरा से मान्य कविता किन्हीं समानताओं के आधार पर उसे अपने गोल में बिठला ले; साथ ही उसे काव्य की परिधि भी बढ़ानी पड़ती है। छंदबद्ध कविता के संबंध में काव्य-प्रेमी पाठक अपना निर्णय सरलता से दे सकता है। मुक्त छंद के संबंध में अभी उसका निर्णय शिथिल है, क्योंकि परम्परा यहाँ सहायता देने में असमर्थ है। नई चीज़ को केवल हँस-कर उड़ा देने की अवस्था तो शायद समाप्त हो चुकी है, पर अविश्वास की दशा अब भी चल रही है। अविश्वास की इस अवधि पर आश्चर्य होता है, जब हम देखते हैं कि मुक्त छंद की पहली कविता आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व लिखी गई थी। हमारी निराशा का मुख्य कारण शायद यह है कि हम अपने यहाँ की प्रतिक्रिया की तुलना इंग्लैंड की प्रतिक्रिया से करते हैं। पर इंग्लैंड में मुक्त छंद की कविता की भी पुरानी परंपरा है।

यों तो अमरीका के १९वीं सदी के कवि वाल्ट ह्विटमन (१८१९-१८९२) को मुक्त छंद में कविता लिखनेवालों का अगुआ माना जाता है, पर आधुनिक अंग्रेज़ी कविता के प्रेरक केवल वे ही नहीं हैं। वाल्ट ह्विटमन अमरीकनों की मानसिक स्वाधीनता का डंका पीटना चाहते थे। उनका आवेश छंदों के बंध तोड़कर फूट पड़ा। आधुनिक अंग्रेज़ी कविता का स्वर आवेश-प्रमत्त का नहीं, गम्भीर विचारक का है; वह ऐसे वक्ता का है जो ऐसे अनुभवों को वाणी दे रहा है जो उसके ही नहीं उसके साथियों के भी हैं, वह कैसे किसी बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहे—कवित्व की गरिमा से कहना दूसरी चीज़ है; वह ऐसे व्यक्ति का है जो अपने अंतर्द्वन्द्वों के विश्लेषण में अपने युग, अपने समाज का विश्लेषण कर रहा है, अथवा जग-जीवन की विविध असंबद्धता में संबंध खोज रहा है। इसको व्यक्त करने के लिए एक ऐसी शैली की आवश्यकता होती है जिसमें वार्तालाप की स्वाभाविकता हो, जीवन की साँसों का उतार-चढ़ाव हो, फिर भी वह भाव और विचार की विदग्धता से इतनी अनुप्राणित हो कि गद्य के धरातल पर गिरकर निर्जीव और भिलपट न हो जाय। वार्तालाप की स्वाभाविकता का गुण

अंग्रेज़ी काव्य में उसके अतुकांत छंद (ब्लैंक वर्स) के नाटकों से आया, जिसका पुष्कल भंडार सोलहवीं सदी के लेखकों ने प्रस्तुत किया था। सत्रहवीं शताब्दी में जब अतुकांत छंद के साथ पर्याप्त स्वतंत्रता ली गई तब इस गुण की वृद्धि ही हुई, जिसको बहुत समय तक नहीं समझा गया; वरन् इस प्रवृत्ति में अतुकांत छंद का ह्रास ही देखा गया। सत्रहवीं शताब्दी में गीतों में भी एक महाकवि ने क्रांति उपस्थित कर दी थी। उसका नाम जॉन डन है। उनके पूर्व अंग्रेज़ी गीतों के मुख्य दो गुण समझे जाते थे—ओज और माधुर्य। जॉन डन ने अपने गीतों में भावों और विचारों की विदग्धता को वार्तालाप की सजीवता, स्वाभाविकता और सरलता से व्यक्त किया। पर दो सौ वर्षों तक उनकी इस विशेषता की उपेक्षा हुई। बीसवीं शताब्दी में जब इलियट तथा अन्य कवियों ने मुक्त छंद के माध्यम की महत्ता पहचानी तो उन्होंने सत्रहवीं सदी के नाटककारों और जॉन डन की दुहाई दी। अंग्रेज़ी की मुक्त छंद की रचनाएँ पढ़ते हुए साहित्य से परिचितों को न जाने कितनी पुरानी, पहचानी ध्वनियों की प्रतिध्वनियाँ आती हैं, जिनमें केवल इतना ही नहीं होता कि नई चीज़ आकर धक्के की तरह नहीं लगती बल्कि उसका अर्थ-गौरव बढ़ जाता है। मैं उच्च कोटि के मुक्त छंद की बात कह रहा हूँ। बड़ों की स्वाधीनता प्रायः छोटों की उच्छृंखलता बन जाती है। आधुनिक अंग्रेज़ी मुक्त काव्य में भी बहुत कुछ ऐसा है जिसकी हिमायत नहीं की जा सकती और जो पाठकों को नहीं छूता, पर उसकी नवीनता में कुछ ऐसा आकर्षण है कि अंधानुकरण के लिए वह बरबस आमंत्रित करता है। हिंदी के मुक्त छंद को अपनी काव्य-परंपरा में कहीं आधार नहीं मिलता। यों तो किसी समालोचक ने श्री सुमित्रानंदन पंत के 'उच्छ्वास' (१९२२) में भी स्वच्छंद छंद देखा था। पर पंत जी का 'स्वच्छंद छंद' छंदों को मिश्रित करने तक ही परिमित था। श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का मुक्त छंद बँगला से आया और बँगला में संभवतः वाल्ट ह्विटमन से। बंग-भंग और स्वदेशी आंदोलन के दिनों में ह्विटमन की आवेशमयी शैली ने विरोध का नारा बुलन्द करने के साथ-

साथ छंदों का बंधन तोड़ने में भी सहायता दी होगी। बँगला मुक्त छंद की बहुप्रचलित शैली अक्षरमात्रिक थी जो लघु-दीर्घ पंक्तियों को प्रायः तुकों से जोड़ती थी। निराला जी की रचनाओं में ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक और एक प्रकार के वर्णिक के भी उदाहरण मिलेंगे। एक प्रकार का वर्णिक, जिसमें कुछ ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं का संघट एक पैटर्न (नमूना-सा) बन जाता है और बराबर, या थोड़े-बहुत विपर्यय के साथ, उसकी आवृत्ति होती जाती है। अब तक इन्हींके शुद्ध अथवा मिले-जुले आधार पर हिंदी की मुक्त छंद की कविता लिखी जाती रही है।

गत वर्ष श्री महाराजकृष्ण रसगोत्र की कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ—'दो परतें', जिसकी भूमिका में मैंने उनके मुक्त छंदों में प्रयुक्त एक नई प्रकार की लय की ओर हिंदी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। यह लय थी उर्दू के शेरों की, जिन्हें, जैसे गलाकर, उन्होंने अपनी पंक्तियों में ढाल दिया था। ध्येय था उनका—वार्तालाप की स्वाभाविकता, सजीवता और प्रवाह लाना। हिंदी पद्यों में बोलचाल की लय का अभाव देख उन्होंने यह काम उर्दू के शेरों से लिया। इससे उनकी पंक्तियों में एक विशेषता, नाटकीयता एवं गति आई। उर्दू की लयों से हमारी मात्राओं के कसे बंधन कुछ ढीले किए जा सकेंगे।

निराला जी अपने प्रयोगों में बहुत काल तक एकाकी ही रहे। कारण शायद यह था कि काव्य के परंपरागत गुण, माधुर्य (जैसे 'जुही की कली' में) और ओज (जैसे 'शिवाजी का पत्र' में) उनके मुक्त छंदों में भी मुखरित होते रहे। और तीन दशक तक लोग इसी तर्क-वितर्क में पड़े रहे कि जो उन्होंने मुक्त छंद में कहा है, क्या उसे अधिक सुंदरता से छंदबद्ध कविता में नहीं कहा जा सकता? मुक्त छंद में ही उन्हें व्यक्त करने का आग्रह करना क्या उनकी सनक नहीं है? जनता को दोष नहीं दे सकते, परंपरा के अभाव में नवीनता उन्हें धक्का भर देती थी, भावनाओं की सूक्ष्म शिराओं को अछूती छोड़ देती थी। ऐसी कविताएँ सुनाते समय लोगों में पर्याप्त उत्साह न देख वे अक्सर कहते थे, "इसमें अंग्रेज़ी संगीत है!" और

उस समय अंग्रेज़ नाम से जुड़ी हुई हर चीज़ लोगों को आतंकित तो कर ही देती थी।

पर उनकी बाद की कविताएँ देखकर मेरी ऐसी धारणा हो गई थी कि वे मुक्त छंद को माधुर्य और ओज की अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रखना चाहते। विषय, प्रतिपादन, दृष्टिकोण आदि की विविधता उनकी बाद की रचनाओं में सहज ही देखी जा सकती हैं। उनकी ओज-शैली का विकास श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' की कुछ रचनाओं में दिखाई पड़ेगा, जैसे 'युग-सारथी' में। मुक्त छंद को आत्म-चिंता और चिंतन का माध्यम बनाने में श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' के प्रयोग सफल समझे जायँगे।

निराला जी के समकालीनों में श्री सियारामशरण गुप्त के मुक्त छंद के प्रयोगों की चर्चा मैं इसलिए करना चाहूँगा कि उन्होंने उसका उपयोग वर्ण-नात्मक अथवा कथात्मक कविताओं के लिए किया। इस दिशा में कोई दूसरा नाम मेरे दिमाग में नहीं चढ़ रहा है।

और आज तो गीतपरक कविताओं के लिए मुक्त छंद का उपयोग जोरों से हो रहा है। गीत के साथ गाने का संबंध छोड़कर, मैं उसे उन सब कविताओं के लिए प्रयुक्त कर रहा हूँ जिनमें विचारों या भावनाओं की एकता हो।

लेकिन मुक्त छंद के विकास की दिशा में सबसे अधिक महत्त्व मैं उन नाटकों और रेडियो-रूपकों को देता हूँ जिनमें मुक्त छंद का उपयोग हुआ है, जैसे श्री धर्मवीर भारती के 'अंधा युग' में। जीवन की ऐतिहासिक अथवा सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में मुक्त छंद जीवन की उन काव्यमय लयों को मुक्त कर सकेगा, जो अभी तक छंदों की नियमबद्ध बेड़ियों में बंद थीं। इनसे वही काम हो सकेगा जो अँग्रेज़ी में सत्रहवीं सदी के नाट्यकारों ने किया। मैं ऐसा समझता हूँ कि अतुकांत छंद में किए गए मेरे शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद भी इस दिशा में सहायक सिद्ध होंगे। मुक्त छंद के नाटकों की ओर झुकने से एक और बड़ी बात यह होगी कि आज के बहुत

से नए कवि उस अहं और आत्मकुंठा के गर्त से बाहर निकल सकेंगे जिसमें पड़े वे तरह-तरह के उक्ति-वैचित्र्य से दुनिया का ध्यान अपनी ओर खींचना चाहते हैं पर उनका स्वर उन्हींके कानों में गूँजकर मिट जाता है। वे अपने ही लेखक हैं, अपने ही पाठक हैं।

अगर मुक्त छंद को यह समझकर अपनाया जाय कि जीवन की कुछ-कुछ क्यों, बहुतसी ऐसी समस्याएँ हैं जो केवल उसके द्वारा ही मुखरित की जा सकती हैं तो उसके विकास और विविधता की संभावनाएँ असीमित हैं। पंत जी मुझे क्षमा करेंगे यदि उनकी पंक्ति को ज़रा बदल कर कहूँ। छंद तो सीमित हैं पर :

'*मुक्त* लय का क्या कहीं अवसान है !'

मुक्त छंद के द्वारा गद्य और काव्य की भाषा का विपर्यय भी घटाया जा सकता है। बड़े साहित्यों के इतिहास इस बात के साक्षी हैं कि किसी भी युग में उनके ऊँचे काव्य और ऊँचे गद्य की भाषा में एक तरह का साम्य रहा है। हिंदी में यह कमी दोप की श्रेणी में आ चुकी है। कभी गद्य-काव्य ने दोनों के बीच सेतु बनाने का प्रयत्न किया था, पर वह गद्य को काव्य और काव्य को गद्य के समीप लाने में सफल नहीं हुआ। अब गद्य-काव्य नहीं लिखा जा रहा है—मर चुका है, और सुना है कि किसीने उस पर कोई थीसिस लिखकर उसकी अंत्येष्टि भी कर दी है।

गद्य-काव्य का स्थान मुक्त छंद ले सकता है। लेकिन मैं देखता हूँ कि तुकांत हिंदी कविता से तो छायावाद की कोशवासिनी, संस्कृतमयी, दुरूह, अमूर्त पदावली हट गई है, पर हमारे मुक्त छंद पर वह अब भी छाई है। कारण शायद यह है कि इसके द्वारा काव्य का व्यक्तित्व अलग रखने का प्रयत्न किया जाता है। जहाँ यह एकदम छोड़ दी जाती है वहाँ रचना के गद्य के धरातल पर उतर आने का भय रहता है। मैं इसको कवित्व लाने का कृत्रिम साधन समझूँगा। यह तो कवियों के सोचने की बात है कि भाषा में गद्य से दूर न जाकर भी वह कौन सा ऐसा गुण है जिसे लाने से छंद-मुक्त पंक्तियों को गद्य न समझा जायगा। इसके लिए कवित्व के कहीं अधिक

विशुद्ध स्वरूप की खोज करनी होगी।

मुक्त छंद में लिखनेवालों का एक और भ्रम मैं दूर करना चाहूँगा कि इस प्रकार की कविता अकेले में बैठकर आँखों से पढ़ने के लिए है। गंभीर से गंभीर कविता को स्वर से तलाक़ दिला देने की बात मेरे मन में नहीं बैठती। चश्मे के संबंध में आँख और नाक की मनोरंजक बहस के बारे में आपने सुना होगा। कविता आँखों के लिए है—इसे मैं उतना ही उपहासास्पद समझता हूँ जितना इस कथन को कि चश्मा नाक के लिए है। कविता कान के लिए है, कंठ के लिए है। मुझे कुछ उच्च कोटि की मुक्त छंद की अंग्रेज़ी कविताओं को सुनने का अवसर मिला है और उसकी रसानुभूति छंदमय कविता से मुझे किसी अंश में कम नहीं प्रतीत हुई।

पाठकों और श्रोताओं से मैं कहूँगा कि नई शैली, नई तकनीक द्वारा व्यक्त होनेवाली नई चेतना का वे स्वागत करें। कम से कम उसके प्रति वे जिज्ञासु हों। साहित्य में शैली का परिवर्तन जीवन के भौतिक और मानसिक क्षेत्रों में परिवर्तन की अचूक निशानी है। कवियों से मैं कहूँगा कि जनता नवीन चेतना और अनुभूतियों के प्रति उतनी उदासीन नहीं रहती जितना उसे समझा जाता है। केवल शैली की विचित्रता से वह धोखा भी नहीं खाती। आपकी भावना, विचारावली, चेतना, अनुभूति, कल्पना—एक शब्द में—प्रेरणा के अश्व व्यग्र हैं तो उन्हें नवीन शैली के रथ में जोत दीजिए। जनता आकर उसमें बैठेगी, आपके साथ चलेगी। आप नवीन शैली का रथ खड़ा कर लेखनी से उसे ठेलना चाहेंगे तो वह आपके प्रति उदासीन रहेगी, आप पर हँसेगी।

अपनी कविता के विषय में स्वयं कुछ कहने के बजाय मैं उसके प्रति अपने पाठकों की प्रतिक्रिया जानना चाहूँगा। अपने काव्य-जीवन में मुझे बहुतसे ऐसे पाठक और श्रोता मिले हैं जिन्होंने किसी कविता के पीछे किसी व्यक्तिगत प्रसंग को जानने की उत्सुकता प्रकट की है। मुझे आश्चर्य न होगा यदि इन कविताओं में कुछ के प्रति ऐसी जिज्ञासा जाग्रत हो। इसकी शांति मैं कविता का रस लेने के लिए आवश्यक नहीं मानता। यह तो

निर्विवाद है कि कला में अभिव्यक्ति पानेवाली प्रत्येक अनुभूति व्यक्तिगत ही होती है, पर कला में अभिव्यंजित होने योग्य प्रत्येक अनुभूति को कुछ ऐसा भी होना पड़ता है जो सार्वजनिक हो। जैसा मुझे अनुभव हुआ है, वैसा आपको भी हुआ हो या हो सकता हो। और साथ ही उस अनुभव और अभिव्यक्ति के द्वारा किसी ऐसे सत्य की झलक भी मिल सके जो मेरे-आपके अनुभवों के ऊपर हो, पर हमारी आत्मा उससे एक सूक्ष्म, सहज एवं अनिवार्य संबंध का आभास पा सके। यह आदर्श की बात हुई। इन कविताओं में इस आदर्श से मैं कितनी दूर या कितना पास हूँ, यह तो आप ही बताएँ।

कविताएँ कई दृष्टियों से पढ़ी जाती हैं। पर सबसे स्वस्थ दृष्टिकोण है कि इन्हें आनंद के लिए पढ़ा जाय। और यह तो आपको बताने की आवश्यकता शायद ही हो कि कविता का आनंद इतना उदार है कि वह अपनी परिधि में उन्माद, अवसाद, आवेश, आक्रोश, व्यग्रता, संवेदना आदि-आदि सभी को स्थान दे सकता है। कविता का आनंद है जीवन का एक हलका-सा धक्का—मुझे पहचाना!

इन कविताओं से वह आपको लग सका तो मुझे खुशी होगी।

नई दिल्ली,
१०–७–'५८

—बच्चन

क्रम

बुद्ध और नाचघर

आह्वान

ओ जो तुम ताज़े,
ओ जो तुम जवान !
ओ जो तुम अंधकार में किरणों के उभार,
ओ जो तुम बूढ़ी नसों में नए ख़ून की रफ़्तार,
ओ जो तुम जग में अमरता के सबूत फिर एक बार,
ओ जो तुम सौ विध्वंसों पर एक व्यंग की मुसकान,
तुम्हारे ही लिए तो उठता है मेरा क़लम,
खुलती है मेरी ज़बान।
ओ जो तुम ताज़े,
ओ जो तुम जवान !

ओ जो तुम सुन सकते हो अज्ञात की पुकार,
ओ जो तुम सुन सकते हो आनेवाली सदियों की झंकार,
ओ जो तुम नए जीवन, नए संसार के स्वागतकार,
ओ जो तुम सपना देखते हो बनाने का एक नया इंसान,
तुम्हारे ही लिए तो उठता है मेरा क़लम,
खुलती है मेरी ज़बान।
ओ जो तुम ताज़े,
ओ जो तुम जवान !

ओ जो तुम हो जाते हो ख़ूबसूरती पर निसार,
ओ जो तुम अपने सीनों में लेके चलते हो अँगार,
ओ जो तुम अपने दर्द को बना देते हो गीतों की गुंजार,
ओ जो तुम जुदा दिलों को मिला देते हो छेड़कर एक तान,
तुम्हारे ही लिए तो उठता है मेरा क़लम,
खुलती है मेरी ज़बान।
ओ जो तुम ताज़े,
ओ जो तुम जवान !

ओ जो तुम बाँधकर चलते हो हिम्मत का हथियार,
ओ जो तुम करते हो मुसीबतों व मुश्किलों का शिकार,
ओ जो तुम मौत के साथ करते हो खिलवार,
ओ जो तुम अपने अट्टहास से डरा देते हो मरघटों का सुनसान,
भर देते हो मुर्दों में जान,
ओ जो तुम उठाते हो नारा— उत्थान, पुनरुत्थान, अभ्युत्थान !
तुम्हारे ही लिए तो उठता है मेरा क़लम,
खुलती है मेरी ज़बान।
ओ जो तुम ताज़े,
ओ जो तुम जवान !

सृष्टि

१

प्रलय
कर सब नष्ट,
सब कुछ भ्रष्ट,
करके सब किसीका अंत,
था चिर शांत ?—
भ्रांति नितांत ।

२

प्रलय में था
एक अमर अभाव,
उर का घाव,
जो उसको किए था
चिर चपल, चिर विकल, चिर विक्षुब्ध;
उसको थी कहीं यदि शांति
तो बस एक उसकी याद में
जो था कभी संसार—
जागृति, ज्योति का आगार,
जीवन शक्ति का आधार,
उसकी भृकुटि का निर्माण,
उसकी भृकुटि का संहार ।

३

सृष्टि, व्याकुलता प्रलय की,
प्रलय के सूने निलय की,
प्रलय के सूने हृदय की;
प्रलय के उर में उठी जो कल्पना,
वह सृष्टि;
प्रलय पलकों पर पला जो स्वप्न,
वह संसार !

पूजा

१

विश्व मंदिर में,
विशाल, विराट, महदाकार, सीमाहीन,
यह क्या हो रहा है !
उड़ रहा है हर दिशा में धूम,
घूमते हैं अग्नि-पिंड समूह;
कितने लक्ष,
कितने कोटि,
जैसे ज्योति के हों व्यूह;
और उठता
एक अद्‌भुत गान
अंबर मध्य
जो है मौन-सा गंभीर !

२

सृष्टि आविर्भूत,
प्रलय के तम तोम से हो मुक्त,
दीपित, पूत,
दग्ध कर नीहार देती धूप;

औ' घुमाती ज्योति-पिंड समूह
अगणित आरती के रूप;
मौन-सा गंभीर जो यह गान,
उसकी प्रार्थना है,
जो समर्पित कर प्रकट आभार
कर रही है निकट उसके,
प्रेरणा जिसकी स्वयं वह आप,
वह साकार !

३

विश्व मंदिर में,
अनादि अनन्त,
जल रही है,
चल रही है आरती जो
यह विशाल, विराट, महदाकार,
एक उसकी वर्तिका है भूमि,
मंदतम,
लघुतम,
सबों से क्षीण,
किन्तु अपनी साधना में लीन।

तप

जलती चल,
तपती चल,
जल-जलकर तप करती चल,
बस एक मंत्र जपती चल,
बस एक ध्यान धरती चल,
जलती चल,
तपती चल !

तप आशा,
तप ही जीवन की भाषा,
तप ही जगती की एक मात्र परिभाषा।
तप एक सृष्टि आधार,
तप से ही तो विस्तार
और संहार।
तप आदि,
और तप मध्य,
और तप अंत,
अरे, तप की है शक्ति अनंत !

तप अपना,
तप तज ना,

तप से मत डिग,
तप से मत हिल,
तप ही कर सकता सत्य कभी जो
तेरे मन का सपना !

तप में जल,
तप में पल,
तप में रह अविचल, अविकल ।
तप का तू पाएगी फल,
तप निश्चल,
तप निश्छल,
तप निर्मल !

युग घूम-घूमकर आएँ,
तुझको तप में रत पाएँ,
तप की भी है क्या सीमा ?
तप काल नहीं खा सकता;
बुझ जाय सूर्य,
बुझ जाय विश्व की अग्नि,
कभी तप का प्रकाश
पड़ नहीं सकेगा धीमा !

तू महाभाग,
जो तुझमें तप की पड़ी आग ।
तू इसी आग में
जल,

तू इसी आग में
• ढल,
तू इसी आग में
रख विश्वास अटल !

वरदान

धरणि,
हो अब शांत।
बीतता तेरा तपस्या-काल,
दीपित भाल !
स्वर्ग तेरी साधना से तुष्ट,
तेरी साधना पर मुग्ध।
ओ तप-निर्मले,
ऊपर उठा तो आँख;
स्वर्ग के सब खुल गए हैं द्वार,
तप की शक्ति अपरम्पार;
और युग-युग रुद्ध झंझावात,
मुक्त होकर,
तारकों के झुंड को झकझोर,
तारकों की ज्योति को कर मंद,
आ रहा है, भूमि,
तेरी ओर,
कितनी विवशता से,
तीव्रता से,
किस तरह निर्बंध औ निर्द्वन्द !

और पीछे आ रहे वरदान !
छिप गए आकाश औ' पाताल,
छिप गई है तारकों की पाँत,
छिप गई आकाश-गंगा की चमकती धार,
छिप गए नीहार,
छिप गया है चंद्र,
छिप गया मार्तंड,
ओ तप-दीपिते !
उठ पड़ा है बादलों का दल—महादल
गोद में हिलकोर जिसकी
ले रहे हैं,
अनगिनत सर, सरित, निर्झर
और सीमाहीन सागर
क्षुब्ध-उच्छल ।
यह उमड़ता औ' घुमड़ता
और गर्जन गान करता,
आ रहा है
भूमि, तेरी ओर ।
ओ, तप-दग्ध,
ओ, तप-तप्त,
स्वागत के लिए मुँह खोल,
पुलक-विभोर ।
धरणि,
हो अब शांत ।

ले बरसता आज है वरदान;
तू सुखमान,
अब वरदान में कर स्नान।
ओ चिर तप्त,
शीत जल में
तू नहा ले खूब;
फिर-फिर निकल,
फिर-फिर डूब,
कर वरदान-जल का पान।
शांत कर युग-युग-तपी निज देह,
शांत कर युग-युग-तपा हर अंग,
फिर-फिर सूख,
फिर-फिर भीग;
और संचित कर
बड़े तप से मिला वरदान का
यह मेह,
स्वर्गिक स्नेह !

शोणित की प्यास

१

तृपित गगन है,
तृषित अवनि है,
तृषित उदधि है,
उस शोणित की प्यास प्रबल से,
नौजवान के उस शोणित की,
जिसकी बूँद-बूँद के ऊपर,
माता की, ममता से निर्मित,
करुणा-सिंचित, स्नेह-निमज्जित,
दया-मया से पल-पल पुलकित,
मोह-छोह से क्षण-क्षण विगलित,
चिर वत्सलता से कहराती,
छाती की पय-धार निछावर,
और पिता का श्रमकण-निर्झर,
दोनों के आँसू का सागर !

२

तृषित व्योम है,
तृषित भूमि है,
तृषित सिन्धु है,

उस शोणित की प्यास अटल से,
नौजवान के उस शोणित की,
जिसकी बूँद-बूँद के पीछे
मानवता के संघर्षों का
चिर-उज्ज्वल इतिहास छिपा है
जिसकी बूँद-बूँद के अंदर
मानवता के नवोत्थान की,
मानवता के नव विधान की,
दुर्द्धर, दुर्जय शक्ति छिपी है,
और छिपा, बल, विक्रम, पौरुष।

३

तृषित अनिल है,
तृषित सलिल है,
तृषित धरा की
धूलि कुटिल है,
उस शोणित की प्यास अमिट से,
उस शोणित की,
जो कि जवानों की नव चेतन
छाती की बन दुर्दम धड़कन
विश्व व्याप्त नीरव भाषा में
प्रतिपल उद्घोषित करता है,
"हाड़-मांस के जिस पंजर में
यह ध्वनि या इसकी प्रतिध्वनि है,

वह मानव तेरे समान है,
तुझ-सा ही उसका दिल, दुख-सुख ।"

४

तृषित साँझ है,
तृषित प्रात है,
तृषित दिवस है,
तृषित रात है,
उस शोणित की प्यास दुरित से,
उस शोणित की,
जो कि जवानी की उमंगमय
औ' उदार बाँहों के अंदर
लहराता निर्बंध, निरंतर,
और उन्हें इस वसुधा-तल पर
बसे निखिल मानव कुटुम्ब को
आलिंगन के अभय पाश में
एक बार ही भर लेने को
प्रेरित करता रहता प्रतिपल ।

५

तृषित प्रकृति है,
तृषित नियति है,
महा तृषातुर
काल पतित है,

उस शोणित की प्यास घृणित से,
उस शोणित की,
जो नवयौवन के नयनों में
नवोल्लास की, नवोत्साह की,
नवोन्मेषशाली आशा की
प्रखर-ज्योति बन रहता जाग्रत;
भेद भविष्यत के भीषणतम
तिमिर तोम को, मानवता की
सतत प्रतीक्षा में विरहाकुल
दैवी युग का स्वप्न देखता !

६

विश्वव्यापिनी, चिरविनाशिनी,
इस तृष्णा से अपनी रक्षा
करने को व्याकुल मानवता,
मुझे बता तू क्या करती है ?
मुझे बता क्या कर सकती है ?

हिंदू और मुसलमान

ओ जो तुम हिंदू,
ओ जो तुम मुसलमान,
ओ जो तुम कहलाते हो गाँधी के सपूत,
भारत माता की संतान,
ओ जो तुम हिंदू,
ओ जो तुम मुसलमान !

कल तक तुम्हारे बीच बैठे थे अंग्रेज़,
जो तुम दोनों को लड़ाने में थे तेज़,
क्योंकि तुम्हारी लड़ाइयों से पकड़ता था ज़ोर
उनके साम्राज्यवाद का रथ,
होती थी मज़बूत उनकी बाग-डोर,
रौंदा और कुचला जा रहा था हिंदुस्तान।
विदेशी था कितना चालाक,
साफ़ थे हाथ, सारी क़ौम हो रही थी हलाक़ !
पर अब तो अंग्रेज़ कर चुके प्रयाण,
अपनी कमज़ोरियों के लिए उनको देना दोष
क्या अब भी है आसान ?
ओ जो तुम हिंदू,
ओ जो तुम मुसलमान,

ओ जो तुम कहलाते हो गाँधी के सपूत,
भारत माता की संतान,
ओ जो तुम हिंदू,
ओ जो तुम मुसलमान !

दुनिया के दुश्मनों को है ज्ञात,
लड़नेवाले उतर जाएँ मौत के घाट,
पड़े रह जाते हैं हथियार,
जिन्हें लेकर अपने हाथ
दूसरे करते हैं, निर्बलों, बेगुनाहों,
बेपनाहों, मासूमों पर प्रहार;
ज़ालिमों की भी होती है ज़ात,
ज़ालिम मरता है, छोड़ जाता है औलाद;
अंग्रेज़ों की वह जादू की तलवार
आज पहुँच गई है उनके पास,
जो चाँदी के रथ पर हैं सवार,
जो कमर में बाँधते हैं सोने की म्यान;
देखो खोलकर आँखें, सुनो खोलकर कान;
ओ जो तुम हिंदू,
ओ जो तुम मुसलमान,
ओ जो तुम कहलाते हो गाँधी के सपूत,
भारत माता की संतान,
ओ जो तुम हिंदू,
ओ जो तुम मुसलमान !

दुनिया की सब लड़ाइयों का
एक ही इतिहास,
एक ही क़ायदा,
लड़नेवालों के कुछ भी नहीं पड़ता पल्ले,
बचता नहीं कुछ भी पास,
उनसे उठाते हैं तीसरे ही फ़ायदा ।
ओ जो तुम ख़ुदावाले, रसूलवाले,
ईश्वरवाले, ऊँचे उसूलवाले,
अगर तुम करते हो झगड़ा,
करते हो मारकाट,
तो तुम उनके जीने का करते हो सामान,
धन है जिनका भगवान,
पूँजी है जिनके लिए वेद-क़ुरान !
ओ जो तुम हिंदू,
ओ जो तुम मुसलमान,
ओ जो तुम कहलाते हो गाँधी के सपूत,
भारत माता की संतान,
ओ जो तुम हिंदू,
ओ जो तुम मुसलमान !

तुम्हारी ख़ास मंज़िल है दूसरी ओर;
तुम्हें भटकाने को है
फ़िरकेबंदी का ग़ुल-शोर;
होना मत इन चालों के शिकार ।

ज़िंदगी और ज़माने की है साफ़ पुकार,
बेकार है तुम्हारा होना हिंदू,
बेकार है तुम्हारा होना मुसलमान,
अगर न रह सके तुम इंसान,
अगर न रख सके तुम इंसान का स्वाभिमान,
अगर न रच सके तुम इंसान के लिए
सुख की ज़मीन,
स्नेह का आसमान !
ओ जो तुम हिंदू,
ओ जो तुम मुसलमान,
ओ जो तुम कहलाते हो गाँधी के सपूत,
भारत माता की संतान,
ओ जो तुम हिंदू,
ओ जो तुम मुसलमान !

रात का अपराध

स्वप्नों के उनींदे और नशीले
और कहीं दूर से आते हुए संगीत को
एकाएक चीरते हुए
कानों में एक तीखी चीख़ आती है
और फिर वह डूब जाती है
पतझर के रूखे-सूखे पत्रों के
झरने के स्वर में—
खड़-खड़ में,
खर-खर में,
पटर-पटर में।
और फिर छा जाता है लंबा-चौड़ा सन्नाटा
लंबी-चौड़ी ज़मीन पर,
लंबे-चौड़े आसमान में।

रात ढल चली है,
अँधेरा अभी नहीं ढला;
नींद उचट गई है,
आँख अभी नहीं खुली।

क्या—
उलूकों के दल ने
पेड़ की नंगी बाहों में,
विभावरी की शिथिल बयार में,
मंद-मंद साँस में,
झूल रहे तृणों के आगार को,
स्नेह के, वत्सलता के,
मोह और ममता के आधार को,
सृष्टि के एक अबोध नवाकार को—
क्योंकि अब नहीं रहे
पात वे हरे-भरे
जो कि उसे रखते थे छिपाकर
दुनिया की नज़र से,
तेज़ नश्तर से—
देख लिया ?
क्या—
वे क्रूर, कठोर, बुभुक्षित
टूट पड़े उस निभृत नीड़ पर—
खुले सब तरफ़ औ' अनरक्षित ?
क्या उन्होंने पैने डैनों की मार से,
नोकदार पंजों के प्रहार से,
गिरा दिया उसका
तिनका, तिनका ?
और क्या—

विहग-विहंगिनी को,
विहग-कुमारों को,
विहग-कुमारियों को,
जिनके अभी उगे थे न बाल-पर भी,
जो थे केवल चंचुवाले मांस के बस लोथड़े,
दाब लिया अपने
आरे से करारे तेज़ दाँतों की क़तार में ?
औ' उन्हें चबा गए ?
खा गए ?
निगल गए ?
उनकी भयातुर, विवश चीं-पुकार को भी ?
और फिर उड़ गए
किसी दूसरे अभागे नीड़ की तरफ़ ?
उफ़ !
और मारे डर के,
सिहर के,
गिर पड़े पेड़ के
पत्ते भी रहे-सहे !

ध्वनि से भी तेज़ कभी होती है प्रतिध्वनि।
आई थी आवाज़ जो
नींद के प्रदेश में,
उसकी प्रतिध्वनि
आती है फिर-फिर

और-और हो के तेज़,
जाती है कान चीर,
जाती है प्राण बेध;
मन कुछ जानने को है अधीर।

ढल गया है अंधकार,
हुआ अभी नहीं प्रात।
डालों को ढील कर
खड़ा है गुमसुम-चुपचाप
एक-एक तरुवर।

पूछता हूँ,
घटना यह दर्दनाक
हुई थी किसपर ?
तरुओं की मौन पाँत
विद्यार्थियों की खड़ी हो जैसे जमात,
मास्टर के पूछने पर,
किसकी है शरारत ?—
जैसे सबने लगाया
चेहरा भोलेपन का;
किसी एक अपने
साथी के क़सूर को
जैसे न बताने की
आपस में सलाह-सी
कर ली हो सबने।

मौन गगन,

मूक धरा,

डोलती नहीं है हवा,

प्रकृति पर छाया एक भेद-भरा संताप;

माँ जैसे बैठी हुई बेटे का छिपाए पाप ।

—का जन्मदिन

मेरे जीवन का,
एक ताज़े सपने-सी है उसकी याद,
ऐसा भी था काल,
जब साल दर साल,
समय की सीढ़ियों पर चढ़ना
था खेल,
था उन्माद।
बचपन और यौवन दोनों बीत चुके हैं,
दोनों पर जीत
पा चुका है अतीत।

माता के घुटने,
पिता की कमर,
माता के कंधे,
पिता का सर—
थे मेरे बढ़ने की माप;
मेरे चढ़ने की चाल
थी कितनी तेज़,
साल दर साल।

मैं उठ रहा था ऊपर
और मेरे साथ ही साथ
चौड़ी होती जाती थी ज़मीन,
फैलता जाता था आसमान।

अब तो
कभी की रुक चुकी है मेरी उठान,
बढ़ती नहीं ज़मीन,
बढ़ता नहीं आसमान,
अब वे केवल बदलते हैं रंग।
बहुत दिन यह सब देख
मैं रहा दंग,
पर जब से पढ़ीं पोथियाँ,
किया विद्वानों का संग,
समझ में आ गई यह बात—
यही है दुनिया का ढंग।

पर,
प्यारे भाई,
आज है तुम्हारा जन्मदिन।
सोचा था मैंने
लिखूँगा कुछ पंक्तियाँ,
दूँगा बधाई,
पर मैं कर रहा हूँ क्या!

—का जन्मदिन

कवियों की क़ौम
होती है बड़ी बदज़ात।
करें ये चाँद-किरन-परियों का गान,
और अगर हों प्रगतिशील,
करें रूस और चीन का बखान,
पर ये घूम-फिरकर
करते हैं अपनी ही बात।
कवियों की क़ौम
होती है बड़ी ही बदज़ात।

तो तुम हुए आज छब्बीस;
आ गया याद मुझे सन तैंतीस,
तब मेरी थी यही उमर,
जब मस्ती से उभर,
गाया था मैंने मधुशाला का गीत;
मेरी वाणी को लग गए थे पर,
धरती पर पड़ते नहीं थे मेरे पाँव,
चर्चा थी मेरी ठाँव-ठाँव।
और मैं कल्पना के पंखों पर आसीन
उड़ा जा रहा था वहाँ,
जहाँ एक और दो
होते नहीं तीन।
पलों को नापती हैं शताब्दियों की माल,
बूँदों पर होते हैं निसार

पारावार के पारावार,
और आँसुओं का भार
सिद्ध कर देता है हलका
सारे सितारों का संसार ।
कमाल !

पर आज
भारी है मुझपर दिन,
भारी है मुझपर रात;
पर छोड़ो भी मेरी बात ।
तुम्हारी है छब्बीसवीं वर्षगाँठ,
गैस के छब्बीस रंगीन गुब्बारे,
तुम्हारी आयु के साल;
उन्हींके सहारे
देखता हूँ तुम्हें ऊपर आते,
खुशियाँ मनाते,
शामिल हूँ मैं तुम्हारे साथ ।
जानते हो मेरा इतिहास,
इसीसे नहीं विश्वास ?
जिनकी आखों में हैं आँसू,
वही समझते हैं फूलों का हास,
जिनके सीने पर है चट्टान,
वही समझते हैं तितलियों की उड़ान,
कलियों की मुसकान ।

—का जन्मदिन

कवि
होता है नबी,
नबी उपदेश देने से नहीं चूकता,
पड़ जाती है बान,
अंत में थोड़ा-सा व्याख्यान ।
जीवन सब दिन नहीं रहता खेल,
नहीं तो, प्रकट करता यह चाह—
हँसते-हँसाते,
उछलते-कूदते,
शोर मचाते,
चले जाओ जगती की राह,
लूटते वाह-वाह ।
जीवन एक दिन बनता है भार,
क्योंकि प्रकृति करती है मनुष्य का सम्मान,
नियति करती है मनुष्य का सत्कार;
अधिकारी का ही होता है इम्तहान ।
शोर मचाते,
उछलते-कूदते,
हँसते-हँसाते,
अच्छे लगते हैं
भोले, सुकुमार, अनजान बच्चे,
बड़े लगते हैं मक्कार-भाँड ।
मैंने भी देखी है ज़िंदगी,
दुनिया भी ली देख;

जहाँ भी मैंने पाया कोई
माथा नवाने के योग्य,
उसके मुख पर थी चिंता,
मस्तक पर थी रेख।
और देखा भी है मैंने इंसान,
उतना ही भारी था उसके काँधों पर बोझ,
जो था जितना ही महान !

नया चाँद

उआ हुआ है नया चाँद,
जैसे उग चुका है हज़ार बार।
आ-जा रही हैं कारें,
साइकिलों की क़तारें;
पटरियों पर दोनों ओर
चले जा रहे हैं बूढ़े
ढोते ज़िंदगी का भार,
जवान, करते हुए प्यार,
बच्चे, करते खिलवार।
उआ हुआ है नया चाँद,
जैसे उग चुका है हज़ार बार।
मैं ही क्यों इसे देख
एकाएक
गया हूँ रुक,
गया हूँ झुक!

डैफ़ोडिल

डैफ़ोडिल, डैफ़ोडिल, डैफ़ोडिल—
मेरे चारों ओर रहे हैं खिल,
मेरे चारों ओर हँस रहे हैं खिल-खिल;
इंग्लैंड में है वसंत—है एप्रिल।
इनका देख के उल्लास,
तुलना को आता है याद,
मुझे अजित और अमित का हास,
जो गूँजता है आध-आध मील—
मेरा भर आता है दिल—
डैफ़ोडिल, डैफ़ोडिल, डैफ़ोडिल—
जो गूँजता है हज़ारों मील,
मैं उसे सुनता हूँ-यहाँ,
हँस रहे हैं वे कहाँ—ओ, दूर कहाँ !
बच्चों का हास निश्छल, निर्मल, सरल
होता है कितना प्रबल !

सृष्टि का होगा आरंभ,
मानव शिशुओं का उतरा होगा दल,
पृथ्वी पर होगी चहल-पहल ।

आल-बाल जब बहुत से हों साथ,
पकड़ के एक दूसरे का हाथ
हँसी की भाषा में करते हैं बात।
उस दिन जो गूँजा होगा नाद,
धरती कभी भूलेगी उसकी याद ?
उसी दिन को सुमिर
वह फूल उठती है फिर-फिर,
फूला नहीं समाता उसका अजिर।
आदि मानव का वह उद्गार,
निर्विकार,
अफ़सोस हज़ार,
इतनी चिंता, शंका, इतने भय, संघर्ष में
गया है धँस,
कि सुनाई नहीं पड़ेगा दूसरी बार;
अफ़सोस हज़ार !
इतना भी है क्या कम,
उसकी बनी है यादगार,
डैफ़ोडिल का कहाँ-कहाँ तक है विस्तार !

हरे-हरे पौधों,
हरी-हरी पत्तियों पर
सफ़ेद-सफ़ेद, पीले-पीले,
रुपहरे, सुनहरे फूल सँवरे हैं,
आसमान से जैसे

तारे उतरे हैं ।
आता है याद,
कश्मीर में डल पर
निशात, शालामार तक
नाव का सफ़र,
इतने फूले थे कमल
कि नील झील का जल
उनके पत्तों से गया था ढक,
पत्ते-पत्ते पर पानी की बूँद
ऐसी रही थी झलक,
जैसे स्वर्ग से
मोती पड़े हों टपक;
सुषमा का यह भंडार
देख के, झिझक,
मैंने अपनी आँखें ली थीं मूँद ।
बताने लगा था मल्लाह,
बहुत दिनों की है बात,
यहाँ आया एक सौदागर,
लोभी पर भोला,
उसे ठगने को किसीका मन डोला,
सेठ से बोला,
ये हैं कच्चे मोती—कुछ दिन में जायँगे पक ।
लेकर बहुत-सा धन
बेच दिया उसने मोतियों का खेत

यहाँ से वहाँ तक।
सेठ ने महीनों किया इंतज़ार,
लगाता जब भी मोतियों को हाथ,
जाते वे ढलक।
आख़िरकार हार,
भर-भर के आह
वह गया मर;
उस पार बनी है उसकी क़ब्र।
सुंदरता पर हो जाओ निसार;
जो उसके साथ करते हैं व्यापार,
उनके हाथ लगती है क्षार।

डैफ़ोडिल का देख के मैदान
वही है मेरा हाल,
हो गया हूँ इसपर निहाल,
मिट्टी की यह उमंग,
बसुंधरा का यह सिंगार
आँखें पा नहीं रही हैं सँभाल।
मेरे शब्दों में
कहाँ है इतना उन्मेष,
कहाँ है इतना उफान,
कहाँ है इतनी तेज़ी, ताज़गी,
कहाँ है इतनी जान,
कि भूमि से इनकी उठान,

कि हवा में इनके लहराव,
कि क्षितिज तक इनके फैलाव,
कि चतुर्दिक इनके उन्माद का
कर सकें बखान ।
यह तो करने में समर्थ
हुए थे बस वर्ड्सवर्थ;
कभी पढ़ा था उनका गीत,
आज मन में बैठ रहा है अर्थ ।

पर मैं इसे नहीं सकूँगा भूल,
सदा रक्खूँगा याद,
आज और वर्षों बाद,
कि जब अपना घर, परिवार, देस, छोड़
आया था मैं इंग्लैंड,
केम्ब्रिज में रक्खे थे पाँव,
अजनबी और अनजान के समान,
अपरिचित था जब हर मार्ग, हर मोड़,
अपरिचित हर दूकान, मकान, इंसान,
किसीसे नहीं थी जान-पहचान,
तब भी यहाँ थे तीन,
जो समझते थे मुझे,
जिन्हें समझता था मैं,
जिनसे होता था मेरे भाव,
मेरे उच्छ्वास का आदान-प्रदान--

डैफ़ोडिल के फूल,
जो देते थे परिचय-भरी मुसकान,
प्रभात की चिड़ियाँ,
जो गाती थीं कहीं सुना-सा गान,
और कैम[1] की धारा,
जो विलो की झुकी हुई लता को छू-छू
बहती थी मंद-मंद,
क्षीण-क्षीण !

१—केम्ब्रिज इस नदी पर बसा है ।

तुम्हारी नज़रों में वे :
उनकी नज़रों में तुम ।

मैं आया हूँ हिंदुस्तान से;
तुम देखते हो मुझे ऐसे,
जैसे मैं आया हूँ चाँद से;
मैं आया हूँ हिंदुस्तान से ।

कोट, पतलून, टाई पहन,
सुबह, शाम, रात, दिन,
किए हुए तुम्हारी भद्दी-सी नक़ल,
(पाता कहाँ से तुम्हारा रंग, तुम्हारी शक्ल ।)
आता-जाता था मैं बराबर
कालिज, लाइब्रेरी, बार,
स्टेशन, सिनेमाघर, बाज़ार,
कैम के इस पार, उस पार,
पर अपने काम-धाम, दौड़-धूप में
तुम्हें कहाँ थी फ़ुरसत
कि देखो तुम मेरी तरफ़,
मुझसे भी ज़्यादा कालों और गोरों की
यहाँ घूमती रहती है सफ़ की सफ़ ।

पर आज काली शेरवानी
और सफ़ेद चूड़ीदार पाजामा
पहन के जो मैं निकला हूँ ख़रामा-ख़रामा,
तो मैं एक अच्छा, खासा
बन गया हूँ तमाशा।
मर्द, औरतों, बच्चों, बूढ़ों—
सभी की नज़र
है बस मुझपर।

मैं आया हूँ हिंदुस्तान से;
तुम देखते हो मुझे ऐसे,
जैसे मैं आया हूँ चाँद से;
मैं आया हूँ हिंदुस्तान से।

बग़ल में है 'हाकिन्स'[१],
सामने खड़े हैं दो लड़के, चार लड़कियाँ,
कर रहे हैं आपस में बातें,
डाले गलबहियाँ,
बीच-बीच में सुन पड़ता है—
'इंडियन प्रिंस', 'इंडियन प्रिंस'।

बाबा, मैं नहीं हूँ 'इंडियन प्रिंस',
न था मेरा बाप, न होगा मेरा बेटा,

१—एक रेस्ट्राँ और नाचघर का नाम।

प्रिंसों का होता है ख़ानदान।
मैं नहीं हूँ हिज़ हाईनेस जोधपुर का भाई,
नवाब रामपुर का भतीजा,
जाम साहब का भाँजा,
महाराज पटियाला का साला,
या बहावलपुर का बहनोई,
या निज़ाम का दामाद;
मुझे मिलती नहीं 'प्रिवी पर्स';
मैं करता हूँ गाढ़ी कमाई,
मैं हूँ क़लम का मज़दूर;
'प्रिंस' है मेरे लिए गाली।
प्रिंसों का लद चुका था ज़माना,
पटेल ने इनकी इज़्ज़त बचा ली।
वाह रे हिंदुस्तान के राजो,
तुमने हिंदुस्तानी लिबास को
ख़ूब किया है मशहूर !

और, न मैं हूँ बाजीगर;
दिखला नहीं सकता 'रोप ट्रिक';
देखी है ज़रूर, पर कहाँ पर ?
भारत में नहीं, यहाँ आकर।
आधी-आधी रात को,
कालिजों के पीछे,
उठती नहीं रस्सी ऊपर,

गिरती है नीचे ।
कौन गया चढ़,
कौन गया उतर,
किसको हो ख़बर ?
थोड़ी-सी लेकर
सोता है 'पोर्टर' ।
रस्सी की करामात,
बस इतनी मुझे ज्ञात ।

और न मैं हूँ मदारी,
न कोई जादूगर;
मेरे पास नहीं है साँपों की पिटारी,
न बिच्छू, न विषखोपड़ा, न अजगर,
न जादू की हाँडी,
न जादू का सोंटा;
जिससे अगर छू दूँ
तो ग़ायब हो जाय
तुम्हारी अँगूठी या घड़ी,
तुम्हारी टोपी या छड़ी ।
पर, हमारे देश में हुआ था एक जादूगर,
उसकी फूँक में था इतना असर
कि उससे ग़ायब हो गई ब्रिटिश एम्पायर !
अब तो याद आ गया होगा उसका नाम,
हाँ—गैंडी, गैंडी, गैंडी !

और न मैं हूँ क्रिकेट का खिलाड़ी,
आया नहीं हज़ारे के साथ
कि फ़ील्ड में दिखाऊँ तुम्हें अपना हाथ ।
हमारे देश में हुए हैं बड़े-बड़े नेता,
पर तुम जानते हो बस
क्रिकेट के दो विजेता,
रंजीत और दिलीप;
और अब मनकड को रक्खोगे याद ।
वे हैं हमारे देश के सपूत,
जहाँ कहीं भी हो उनका मान,
हमें होता है अभिमान;
पर अजीव-सी लगती है वात,
कि बूढ़े भारत पर बीसवीं सदी का व्यंग,
कि जहाँ हुए वशिष्ठ और व्यास,
पातंजलि और वाल्मीकि,
जयदेव और कालिदास,
शंकर और बुद्ध भगवान,
महावीर और गौरांग,
गौतम और कणाद,
उसके प्रतिनिधि हैं आज
रंजीट, ड्यूलिप और मनकाड !

बस हो गया ख़त्म
भारत का तुम्हारा ज्ञान;

शायद इतना और है तुम्हें मालूम
कि वहीं है कहीं ताजमहल,
(केम्ब्रिज में है इस नाम का होटल)
और वहीं कहीं है हिमालय पहाड़,
जिस पर तुम्हारे कई एक्सपेडीशन
लौटे हैं खाकर पछाड़।

तुमने क्या जाना है हिंदुस्तान ?
तुमने सुना नहीं राम का नाम,
जाना नहीं उनका विमल यश,
उनके नाम का प्रताप,
सीता के जीवन का तप-ताप-अभिशाप;
तुमने सुनी नहीं कृष्ण की मुरली की तान,
देखा नहीं गोपियों के साथ उनका रास,
राधा के साथ उनका मान-विहार,
समर में बहाना ज्ञान की धार—
गीता का व्याख्यान।
तुमने जाना नहीं अमिताभ का वैराग्य—
सुख-साज-राज-गृह-त्याग,
खोजना प्रकाश का मार्ग,
यशोधरा का मौन बलिदान।

तुमने पढ़े नहीं हमारे उपनिषद,
जिनमें जीवन का संतोष,

और मरण की शांति—
दोनों पा गया था शोपनहार।
तुमने पढ़ी नहीं शकुन्तला,
जिसमें धरती और आसमान,
स्वर्ग और नरक,
नियति, प्रकृति और पुरुष,
गेटे ने पाया था सब एक साथ।

परम पुरातन है हमारा देश,
अज्ञात अतीत में है
हमारी संस्कृति का मूल,
कला, संगीत, साहित्य,
न जाने कितनी बार,
नए-नए रूप धार,
उभरे हैं, बढ़े हैं,
परवान चढ़े हैं,
कि उन्हें इतिहास भी गया है भूल।
अब भी एक नया उन्मेष
बदल रहा है हमारे देश का वेश।
पर तुम तो बैठे हो मानकर
कि वहाँ या हैं इंडियन प्रिंस,
या इंडियन जग्लर,
या इंडियन क्रिकेटर।
तुम सचमुच हो इतने अनजान,

कि बन रहे हो जानकर ?

बताओ तुम्हें कैसा लगे अगर
कोई इससे हो बेख़बर
कि तुम्हारे यहाँ हुए हैं चासर,
स्पेंसर, मिल्टन, शेक्सपियर,
ड्राइडेन, पोप, जानसन,
शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, बाइरन,
आर्नल्ड, ब्राउनिंग, टेनिसन ?
या वीर सेनानी--
क्रामवेल, वुल्फ़, नेल्सन, वेलिंग्डन ?
या नीति के ज्ञानी--
पिट, बर्क, डिसरेली, ग्लैड्सटन ?
या कि विज्ञानी--
न्यूटन, हक्सले और डारविन ?
या समाज-सुधारक--
कर्लाइल, न्यूमन, रस्किन ?
या उपन्यास-लेखक--
स्काट, थैकरे, डिकेन्स, जेन आस्टिन ?
वह जानेगा तुम्हें ख़ाक
जो जाने न तुम्हारी परंपरा,
तुम्हारा दर्शन, तुम्हारा विचार,
तुम्हारे बर्कले, ह्यूम, लाक,
तुम्हारे चित्रकार-कलाकार,

तुम्हारे हाकिंस और ड्रेक--
साहसी एक से एक--
और तुम्हारे वे वीर अनेक,
जिन्होंने समुद्रों के पार
फैलाया तुम्हारा राज,
फहराया तुम्हारा यूनियन जैक !

तुममें विद्या का प्रचार,
साधन हैं तुम्हारे पास हज़ार,
डेढ़ सौ बरस हमपर कर चुके हो राज,
और तब भी तुम हमसे इतने अनजान—
तो फिर कैसे दूँ उस हिंदुस्तानी को दोष
जो है सदियों से ग़रीब, निरक्षर भट्टाचार्य,
जो अपने देश, जाति से ही नहीं बाख़बर, बाहोश,
जो तुम्हारा लाल-लाल मुँह देख
तुम्हें समझता है बंदर की औलाद,
(तुम इससे क्यों होगे नाराज़,
डारविन का भी तो यही था विचार।)
उसके लिए बस—अंग्रेज़
लगाता है गले में फाँसी का फंदा,
सिर पर रखता है टोकरी-सा टोप,
सबसे अलग करता है सफ़र,
बोलता है गटर-पटर,
खाता है गाय-सुअर का गोश्त,

ढालता है शराब, सोडावाटर, बियर,
पालता है कुत्ता, बुलटेरियर,
करने जाता है शिकार,
पीता है सिगार,
और जब देखो तब
बजाता रहता है सीटी,
पढ़ता रहता है अख़बार ।

रेगिस्तान का सफ़र

"हमने माना
कि रेगिस्तान के उस पार है बहारिस्तान,
जहाँ हैं छायादार दरख़्त,
रंगदार फूल,
दूर-दूर तक दूब के मैदान;
जहाँ बहती है नीले पानी की नहर,
चलती है ठंडी हवा सर-सर-सर,
करती हुई सौरभ की बौछार,
हर मौसम में, हर वक्त;
मेहरबान है आसमान,
गूँजता है, छोटी-छोटी चिड़ियों का गान,
मुलायम-मुलायम पत्तियों का मर्मर स्वर।
वहाँ टीले पर बैठ
चरवाहा अपनी बाँसुरी पर
छेड़ता है मनुहार-भरी तान,
चरवाहिन करती है मान,—
प्रेम फिर-फिर माँगता है प्रमाण—
ऐसों का ही तो प्यार
रहता है सदा जवान।

और भेड़ों का झुंड
किनारों पर बाँधकर क़तार,
झुकाकर गर्दन,
बुझाता है अपनी प्यास,
होता है निहाल
देखकर अपनी परछाईं,
मिलते हैं अधर से अधर,
होता है सबपर मुहब्बत का असर।

ऐसा ख़्वाब,
ताज्जुब नहीं,
जो उठाए दिल में एक लहर, एक सैलाब।
मगर सोचो तो,
मेरे मीत, अनुभवहीन,
कितने दिन, कितनी दूर, कितनी तकान का है सफ़र।
भाई-बंद,
कुटुंब-कबीले,
दोस्त-अहबाब—
इनसे भी कर लो सलाह;
चार आदमी की राय से किए हुए काम का
अच्छा होता है अंजाम,
वैसे, सब हैं आज़ाद
चलने को अपनी-अपनी राह।"

"इस सपने की

मैंने की है खोज।
नहीं, नहीं; हो रही है ग़लती;
इस सपने ने
खोजा है मुझे;
मैं नहीं झुकता इसकी तरफ़,
यह मुझे खींच रहा है अपनी ओर;
किसमें है ज़ोर
कि मुझे रोक ले;
रोका नहीं जाता है सैलाब,
थामी कहीं जाती है लहर !
सपनों से कुछ भी नहीं है ताक़तवर।
फेंक चुका दाँव,
फेंक दिए डाँड,
दाब दी है नाव,
बाज़ी हार चुका;
मेरा सफ़र मुझे पुकार चुका,
दुब्धे की हालत थी कल;
आज,
यह रहा मैं—वह रही मेरी मंज़िल।
उठाने में कोई भी काम
जिगर का हौसला, जी का उत्साह,
मौजों के समान देता है उभार,
देता है उछाल,
बढ़ा भी ले जाता है कुछ दूर,

लेकिन फिर
पाँवों तले होती है धरती कठोर,
सिर पर होता है आसमान क्रूर,
हिम्मत का, दोनों ही लेते इम्तहान,
कुछ भी परवाह नहीं,
अकेला भी बहोत बड़ा है इंसान !
जब आसमान बरसेगा अँगार,
ज़मीन उगलेगी आग,
भाई-बंद खेल रहे होंगे फाग।
जब मरु भू की लू,
रेत से भर मुँह-नाक,
लेने न देगी साँस,
घुटता होगा दम,
कुटुंब-कबीला करता होगा अट्टहास;
और जब प्यास बालू को निचोड़
हो रही होगी हैरान-परीशान,
दोस्त-अहबाब,
कहीं बैठे, उटघे, लेते,
माँग रहे होंगे
शराब औ' कबाब !
इन्हींसे कहते हो करने को सलाह ?
जिन्होंने घर से निकाले नहीं क़दम,
जानी नहीं मन की उमंग,
झेली नहीं तन की तकलीफ़,

पाया नहीं थकान का रस,
लक्ष्य पर पहुँचने का आनंद।
मैं तो इसके लिए भी हूँ तैयार
कि रेगिस्तान के रेगिस्तान करके पार
अपने सपनों से रहूँ उतनी ही दूर,
जितना था तब,
जब किया था उनके लिए प्रस्थान।
वे आएँगे नहीं मेरे साथ,
मैं कब बिका था उनके हाथ?
मुझे चाहिए नहीं किसी की सलाह,
मेरे सच्चे सलाहकार हैं
मेरे पाँव, मेरी राह!

मेरे भाई-बंद,
मेरे कुटुंब-क़बीले,
मेरे दोस्त-अहबाब,
तुमसे भी दो बात।—
मुबारक हो तुम्हें अपना घर,
घर का आराम;
घर देखना भी है
नहीं कम काम।
मुझे रोकने का मत करो प्रयास,
मुझे अपने पंजों, पिंडलियों, रानों पर विश्वास।
मैं नहीं जा रहा हूँ पहली बार,

बहुतेरे आए हैं
इस पथ को जीत,
बहुतेरे गए हैं
इस पथ से हार,—
दोनों हैं महान।
आँधी और तूफ़ान
मिटा नहीं पाए हैं
उनके विश्वास भरे, आस भरे
पाँव के निशान,
आन के पड़ाव;
वे देंगे साथ,
वे देंगे हाथ।
विदा का है समय,
ओ मेरे ईर्ष्यालु, उदासीन, सहृदय,
अगर दे सको तो दो,
लगता नहीं है दाम,
अपनी शुभ कामना,
अपना आशीर्वाद,
गो उसके बिना भी
लोगों का चलता है काम।
मिले जो मुझे मेरे ख़्वाब,
लौटकर उनको करूँगा तुमसे बयान;
लौटा जो निराश,
करने को उपहास

पाओगे तुम सामान,
या सहानुभूति-नुमा व्यंग का शिकार।
लेकिन मुझे
और किसी एक को और,
जान लोगे ठीक,
ज़रा करो ग़ौर,
होगा सबसे बड़ा वरदान,
मेरे सफ़र में गाया हुआ गान।"

दोस्तों के सदमे–१

आई वाज़ ऐंग्री विद माई फ़्रेंड :
आई टोल्ड माई राथ, माई राथ डिड एंड ।—ब्लेक

काश कि तुम यह जान सकते
कि जिन्हें तुम समझते आए हो अपना दोस्त,
अपना मेहरबान, अपना शुभचिंतक,
वे अपने दिल की गहराइयों में
तुमसे करते हैं कितनी नफ़रत,
करना चाहते हैं तुम्हारा कितना नुक़सान !

अजीब होता है इंसान !
करता है दोस्त की तलाश,
और जब तक दोस्त हो दुखी,
दोस्त पर हो मुसीबत,
इसको आता है मज़ा,
दिखाने में हमदर्दी ।
पर जो वह फूले-फले, और हो ख़ुश,
तो इसके सीने पर लोट जाता है साँप,
क्योंकि उसे नहीं रहती इसकी हमदर्दी की ज़रूरत ।

लोग कहते हैं मुसीबत में नहीं मिलता दोस्त ।

मैं कहता हूँ, बात है ग़लत।
मुसीबत में ही मिलते हैं दोस्त।
और अगर हो मुसीबत के पार,
ख़ुश व ख़ुर्रम व दिलशाद,
तो मेरी बात रखना याद,
तुम्हारे दुश्मन होंगे हज़ार।

जो तुम्हारे दुख में दिखाते हैं संवेदना, सहानुभूति,
उनसे रहना होशियार;
वे हैं मक्कार;
जो तुम्हारी हँसी-ख़ुशी में हैं साथ,
वे हैं दिल के साफ़;
वे तुम्हें करते हैं प्यार;
वे साबित होंगे वफ़ादार।
बात लगती हो नाक़ाबिलेएतबार,
पर तजुरबा भी तो कोई चीज़ है, मेरे यार!
जो बहाते थे मेरे साथ आँसू,
लिए फिरते हैं मेरे लिए कटार;
जो पीते थे मेरे साथ शराब,
वे अब भी हैं मेरे दोस्त, मेरे अहबाब।

आप हैं एक मिसाल!—
नक़्क़ाल कहीं के—नक़्क़ाल!—
जब मैं हलाहल के घूंट पी रहा था,
यह इतना रोया,

मुझे लगा,
किसीने अमृत से मेरा मुँह धोया।
अब जो मैंने ली है आराम की एक साँस,
इसके घर में पड़ गया है मातम।
ऐसों के ही लिए कह गए हैं तुलसीदास—
कि ये दूसरों की हानि में
समझते हैं अपना लाभ,
दूसरों के उजड़ने पर होते हैं हर्षित,
बसने पर मनाते हैं विषाद,
कि ये हैं नाकारे, काहिल, कामचोर,
पर करना हो किसी का अकाज,
तो लेंगे सहस्रबाहु से होड़,
अपना तन भी देंगे छोड़,
गल जाएँगे, जैसे पत्थर,
पर खेती कर देंगे बर्बाद।
किसीका बेकाम होता हो घी
तो ये पड़ जाएँगे बनकर मक्खी।

क्या हैं ये,
अगर नहीं मक्खी के ही समान ?
पर ये हैं जितने छोटे,
उतने ही खोटे।
देखने को दूसरों का दोष,
इनके हैं हज़ार आँखें;

करने को दूसरों की बुराई,
इनके हैं हज़ार ज़बानें;——
शेषनाग के हैं बड़े भाई——
सुनने को दूसरों का पाप,
इनके हैं दस हज़ार कान।
कीचड़ से लड़ने के लिए,
ज़रूरी है कीचड़ में प्रवेश;
बुरे को परास्त करने के लिए,
आवश्यक है बुराई का हथियार;
बुराई की भूषा, बुराई का वेश;
भगवान को लेना पड़ा था सुअर का अवतार।
ये तो अपने आप में ही
लिए हैं मौत का बीज,
ये हैं क्या चीज़ !
इनसे बचना समझकर बेकार,
तुलसी ने किया था इन्हें दूर से ही नमस्कार।

छिपता नहीं नीच,
लाख करे प्रयास,
मुझे भी मिल गया था इसका आभास;
पर मेरा तो था और ही विश्वास,
मैंने जीवन किया था स्वीकार——
रंग, रस और पराग; पंकज और पानी;
भौंरा और दादुर;

काई और कीच और सेवार;--
तब थी मेरी कच्ची जवानी।
सुंदर और असुंदर जग में
दोनों को सराहा था--
हंस की सहलाई थी गर्दन,
कौए को भी चाहा था;
उसे भी दिया था अपना अनुराग--
मौक़े न करूँगा बयान,
ओछी बात;
बड़ों की सीख,
नेकी कर, कुएँ में डाल।
बायस को भी दिया था मैंने अनुराग,
परंतु निरामिष हुआ है कभी काग ?

यह तो निकला और बड़ा घाघ,
नोचता है मेरा ही मांस ! —
देख अपनी चोंच की ओर,
मना उसकी ख़ैर,
ओ, नादान,
मेरा हृदय भर ही कोमल,
बाक़ी जगह मैं हूँ वज्र-कठोर;
विद्यापति की प्रेयसी के बिल्कुल विपरीत,
जिसका कुसुम का था सकल शरीर,
हृदय था पाषाण !

ओ मेरी मुसीबत के दिखावटी दोस्त,
मेरे कानों में आई है आवाज़,
कि मेरे बारे में बनाकर अजीबोग़रीब कहानियाँ
तुम जगह-जगह करते हो प्रचार।
क्यों ख़राब करते हो अपना वक़्त ?
मैं हूँ अकिंचन, अपदार्थ, न—कुछ,
क्यों मुझे देते हो इतना महत्त्व ?
किसी बड़े को बनाओ अपना शिकार।
कल्पना के हो भंडार,
तो करो कुछ सृजनात्मक,
रचो उपन्यास, नाटक,
जाने, माने तुम्हें संसार।
मेरे बारे में कहके ओछी-खोटी
तुम मेरा क्या बिगाड़ लोगे ?
कर दे बंद,
जो मुझे देता रहा है समाज;
चाटकर तलवे,
हिलाकर पूँछ,
मैंने नहीं कमाई अपनी रोटी।
रानी रूठेंगी, लेंगी अपना सुहाग;
राजा रूठेंगे, लेंगे अपना राज।
मेरा क़लम रहे बरक़रार।

छोड़े हैं जो तुमने साबुन के बुलबुले,

वे हवा में कब तक करेंगे सफ़र,
किन-किन पर होगा उनका असर ?
छिप-छिप के जो की जाती है बात,
एक की बचा के आँख,
दूसरे का बचा के कान,
उसमें भी होती है जान ?
उसे भी जो मानें,
उसका भी जो करें यक़ीन,
उन रबर के पुतलों को
मेरी ठोकरें—एक-दो-तीन !

कवि भी छोड़ते हैं कल्पना के ग़ुब्बारे,
पहाड़ों पर से होता है उनका एलान,
खेलते हैं उनसे आँधी-तूफ़ान,
बिजली और बादल देते हैं उनका साथ,
तारे करते हैं उनसे बात,
उल्का होते हैं उनके पास,
आसमान करता है उनका सम्मान,
ज़मीन के होते हैं वे मेहमान,
और उन्हें छूकर
इंसान उठ जाता है ऊपर।
इन ग़ुब्बारों में भरने को
नहीं चाहिए साँस,
दमे के बीमार की,

उखड़ी हुई, टूटी,
अब छूटी कि तब छूटी !
इनमें भरने को चाहिए
कवि के वक्षस्थल की साँस
लिए हुए आत्मविश्वास,
जो खिंचती है तो
खींच लेती है प्राण,
निकलती है तो
करती है अमरत्व प्रदान !

जो हैं ख़ुद मुर्दे
किसीको नहीं दे सकते जीवन-दान,
चाहते हो कि जिएँ तुम्हारे आख्यान ?
तो जाओ, करो साधना,
जब लौटकर आओगे,
बहुत कुछ बदल जाओगे,
ज़िंदगी की शक्ल और ही कुछ पाओगे।

पर अगर
साधना से डर लगता है,
तो सुनो, ओ नक़्क़ाल,
दो-चार कान के कच्चों में
घूम-फिर कर तुम्हारा बयान
हो जायगा बेजान।
चेहरा लगा के फिरोगे कब तक ?

दुनिया एक न एक दिन तुम्हें पहचानेगी।
बहुत दिन पुजता नहीं वेश का प्रताप,
अंत में परदा उघरता है अपने आप,
झूठ की खुलती है क़लई,
साँच को नहीं आती आँच।
इसी एक एतक़ाद पर
मैंने किया है जीवन भर संघर्ष,
सहा है मान-अपमान,
चलाई है लेखनी,
खोला-मूँदा है मुँह,
झेला है अवसाद-अपवाद;
जिस दिन झूठे, चोर, चालबाज़,
चापलूस और चुग़लख़ोर
बन जाएँगे कोई ताक़त,
कोई प्रभाव,
निश्चित करेंगे तुम्हारा-मेरा
उतार-चढ़ाव,
उसी दिन
विधाता के मुँह पर थूक,
दुनिया को लगा के दो लात
कर लूँगा मैं आत्मघात।

दोस्तों के सदमे—२

इट इज़ इज़ियर टु फ़ारगिव ऐन
एनिमी दैन टु फ़ारगिव ए फ़्रेंड—ब्लेक

ओ अभागे,
इस हृदय की वेदना को
खौलने दे,
खौलकर ही शांत होने दे।

शत्रु तेरा
आज तुझपर वार करता
तो तुझे ललकारता मैं—
उठ,
नहीं तू यदि
नपुंसक, भीरु, निर्बल,
चल उठा तलवार
औ' स्वीकार कर उसकी चुनौती।
आत्मरक्षा के लिए
लड़ना कभी अनुचित नहीं है,
और प्रियजन की सुरक्षा के लिए
कर्तव्य लड़ना,

किंतु अपने नाम को
लज्जा बचाने के लिए है
धर्म लड़ना।
नाम पर जो
दाग़ लगता है
कभी धुलता नहीं है।
नाम पर जो
घाव लगता है
कभी पुरता नहीं है।
शत्रु तेरा
आज तेरे नाम पर
यदि वार करता
तो तुझे ललकारता मैं—
चल उठा तलवार
औ' स्वीकार कर उसकी चुनौती।
न्याय,
क़िस्मत
और मन की शक्ति का
जो फ़ैसला हो
वह खुले मैदान होने दे।

ओ अभागे,
इस हृदय की वेदना को
खौलने दे,

खौलकर ही शांत होने दे।

आज तेरा मित्र तुझपर वार करता,
और तेरे नाम पर,
औ' पीठ पीछे
वार करता !
फूल की आशा
जहाँ से थी, वहाँ से
एक भाला उठ रहा है !
और कारण ?
कुछ नहीं इसके सिवा है–
क्योंकि यह संसार है,
क्योंकि ईर्ष्या औ' घृणा भी
उस जगह हैं
जिस जगह पर प्यार है।

मैं उसी रनबीर का
गुणगान करता हूँ
कि जिसके
घाव सीने पर लगे हों।
आज मैं अनुरोध
यह तुझसे करूँगा–
आँख पीछे को फिरा मत,
'जानकर अनजान बन जा।'
और, आने दे उसे जो

आ रहा भाला लिए कर,
आ रहा काला किए मुँह,
और करने दे उसे आघात।
मेरी बात
यह कर गाँठ,
कायर के प्रहारों से
कभी कोई नहीं मरता।
जानकर अनजान बनना
भी नहीं कम वीरता है,
धीरता है।
वीर है वह
घाव जो आगे लिए हो दुश्मनों के
और पीछे, दोस्तों के।

और आएगा कभी वह
सामने भी
मित्रता का एक झीना
आवरण डाले जिसे वह
फाड़ने को हाथ आगे
कर न पाया।
और, तू बेचैन होगा
चाक करने को उसे,
नापाक उसका रूप नंगा देखने को।
किंतु यह मत भूल

आ रहा भाला लिए कर,
आ रहा काला किए मुँह,
और करने दे उसे आघात।
मेरी बात
यह कर गाँठ,
कायर के प्रहारों से
कभी कोई नहीं मरता।
जानकर अनजान बनना
भी नहीं कम वीरता है,
धीरता है।
वीर है वह
घाव जो आगे लिए हो दुश्मनों के
और पीछे, दोस्तों के।

और आएगा कभी वह
सामने भी
मित्रता का एक झीना
आवरण डाले जिसे वह
फाड़ने को हाथ आगे
कर न पाया।
और, तू बेचैन होगा
चाक करने को उसे,
नापाक उसका रूप नंगा देखने को।
किंतु यह मत भूल

उसके तार आधोआध
तेरे हाथ के काते-बुने हैं।
कौन ताना कट सका बाना कटे बिन ?
एक पर्दा है कि तेरी
वेदनाओं को,
शिकायत को छिपाए,
एक पर्दा है कि उसकी
बेवफ़ाई,
बेहयाई को छिपाए।
रख नियंत्रण,
ओ अकिंचन,
हो सके तो,
तू इसे मत फ़ाश होने दे।

ओ अभागे,
इस हृदय की वेदना को
खौलने दे,
खौलकर ही शांत होने दे।

तू अचंभे,
क्रोध के
पथ पर लुढ़कता
वेदनाओं के गढ़े में
आ गिरा है।
तम घिरा है।

मिल नहीं पातीं
विचारों को दिशाएँ ।
मुँह किसे मन की सुनाए ?
ओ विचिंतित,
शोक-संचित,
रो तुझे जो आँख तेरी
आज रोने दे ।

ओ अभागे,–
इस हृदय की वेदना को
खौलने दे,
खौलकर ही शांत होने दे ।

सर्वदा से
वे सुरा के घूँट पीकर
ग़म ग़लत करते रहे हैं ।
औ' सुरा के गीत गाकर
मैं यही अनुभूति
दुहराता रहा हूँ,
शांति कुछ पाता रहा हूँ ।
आज हालाहल पिए हूँ,
जल रहा तन,
जल रहा मन,
जल रहा एकांत जीवन ।
ओ समुंदर से घिरे

परदेस की
ठंडी, अँधेरी रात,
सोने दे,
न सोने दे,
प्रात होने दे ।

ओ अभागे,
इस हृदय की वेदना को
खौलने दे,
खौलकर ही शांत होने दे ।

कड़ुआ अनुभव

क्या तुझपर गुज़रा है ऐसा वक़्त,
जब सारा जहान
लगता है एक मसान,
और मरे, मिटे, जले, बुझे सपनों की
राख का भार
लगता है ऐसा भारी,
जैसे छाती पर रख दिया गया हो पहाड़।
सपने लेते हैं साँस,
सपनों के होता है शरीर,
उन्हें भी लगता है मौत का तीर,
उनसे भारी होती है उनकी लाश,
दिया है उन्हें तूने कभी काँधा ?
और उनकी राख
होती है और भी वज़नदार।
वज्र को माननी पड़ती है
फूल से हार।

जब ऐसा आता है समय,
क्या करते हैं लोग ?
खोजते हैं नहीं डाक्टर, वैद्य, हकीम;

उनके बस का नहीं यह रोग;
भंग, शराब, अफ़ीम, स्लीपिंग पिल
बहला नहीं पाती दिल ।
इसका एक ही इलाज,
पहले भी लोग करते थे यही,
करते हैं आज भी ।
लोग ढूँढते हैं एक हमदम,
एक दोस्त,
एक साथी,
एक मीत
और उससे कह डालते हैं
जो उनपर बीत रही है ।
हल्का हो जाता है मन,
हल्का हो जाता है जीवन;
नुस्ख़ा लगता है आसान,
पर यह है मुश्किल से भी मुश्किल ।
ऐसा ही था एक वक़्त,
वक़्त बहुत बार मुझपर गुज़रा है सख़्त ।

उसने दिलाया मुझे विश्वास,
मेरा हृदय है पारावार
कि उसमें अगर डाल दिया जाय कैलाश,
तो क्या मजाल,
कि लहरें भी लें साँस ।

उपमाएँ होती हैं धोखेबाज़,
सच्चाई का लगता नहीं अंदाज़;
इन्हींसे करता रहा ज़िंदगी भर खेल,
इन्हींका हो गया शिकार;
कहते आए हैं बुज़ुर्गवार,
डूबते हमेशा हैं तैराक !

गिरा दीं दीवारों पर दीवारें,
परदे पर परदे दिए फाड़,
खोल दिए भेद पर भेद,
फैला दिया ज़िंदगी का नक़्शा,
बोला, 'मेरे यार,
तुमसे कौन छिपाव,
कैसा दुराव !
उतर गया सिर का बोझ,
पलकों का भार;
निकल गया दिल का ग़ुबार।
साँस लेना था दुशवार,
मरने का था इंतज़ार;
जीने में फिर से हुआ एतबार।
लगने लगी ठीक हर एक भूल,
जो थे काँटे, हो गए फूल,
और पाप ?
लगा ऐसे,

जैसे हो गया हो अपने आप;
मिट गया पश्चाताप ।
जानता नहीं इंसान—
जो कहती है,
बरकत कितनी बड़ी है ज़बान;
जो सुनते हैं,
कमाल कितने बड़े हैं कान;
जो समझता है,
दिल कितना बड़ा है वरदान ।

जिसने सुनी है तेरे दिल की बात,
उसने किया है तुझपर एहसान,
और एहसान करने का होता है अभिमान,
जिसको भूलना नहीं आसान ।
एहसान करके मौन
रहता है कौन ?
कोई नहीं, पर कोई एक,
जो होता है नियम का अपवाद ।

एकाएक आती है एक आवाज़—
यह है मेरी भूलों का इतिहास,
मेरे शूलों का आख्यान,
मेरे भावों का उपहास,
मेरे विचारों पर व्यंग,
मेरी ग़ल्तियों पर फ़ब्तियाँ,

मेरी भावनाओं का मज़ाक;
मेरे पाप मुझे जैसे रहे हैं पुकार,
मेरी चोटें रही हैं जाग,
मेरा दुश्मन नहीं, मुझपर
मेरा दोस्त कर रहा है आघात,
मेरे पीठ पीछे मुझपर प्रहार।

ओ मनुजात,
तेरे पेट में पचती नहीं बात ?
जानता नहीं इंसान—
जो कहती है,
अभिशाप समान है ज़बान;
जो सुनते हैं,
अभिशाप समान हैं कान;
जहाँ बिकने को आता है
हर भाव, विचार, सामान,
अभिशाप समान है दिल की दूकान।
मत कर इंसान का यक़ीन,
करके पछताया था आसमान,
पछताई थी ज़मीन।

तेरी छाती पर है भार,
तेरे दिल में तूफ़ान-ग़ुबार,
तेरी ज़बान को है बुख़ार,
तो खोज मत कान और ज़बानवाला इंसान।

चला जा वहाँ--जहाँ है बियाबान,
जंगल सुनसान,
मैदान, चट्टान।
पर्वतों से कह दे अपना पाप,
पेड़ों से कह दे अपना संताप,
फूलों से कह दे अपनी भूल,
नदियों में धो डाल अपने घाव,
दूब पर बिछा दे अपने भाव,
और, तारों से कर ले दिल की बात,
जो बिना लिए शब्दों का आधार,
आँखों से निकल,
गालों पर फिसल,
गिरती है भू पर, मगर
पहुँच जाती है ऊपर!
धीरज की ये हैं मिसाल,
कहता जा तू इनसे अपना हाल,
ऊबेंगे नहीं ये सुनने से,
घंटे, दिन, हफ़्ते, महीने, साल-हा-साल।
ये हैं कान ही कान,
बिल्कुल बेज़बान,
कहेंगे नहीं किसीसे तेरी बात,
कहने-कहने में बातें जाती हैं बदल,
टेढ़ी होकर, ऐंठकर
हो जाती हैं बदसूरत, बदशक्ल।

पर यह सब है तेरे लिए उपदेश,
आएगा काम,
रख याद।
मैं तो कहने को अपनी बात
खोजूंगा फिर भी इंसान,
फिर भी आदमज़ात,
निकलें वे भले ही धोखेबाज़,
झरोखेबाज़, दग़ादार,
करनेवाले विश्वासघात।
मैं हूँ शायर,
शायर नहीं होता कायर;
वह होता है बलवान,
जीवन के अखाड़े का पहलवान।
खुली है मेरी छाती, कमर, जाँघ,
पतलून, कमीज़, कोट की
मुझे नहीं चाहिए ओट,
खुला है मेरा कसरती शरीर,
खुला है मेरा दिमाग़,
खुला है मेरे मन का हर द्वार,
मेरी ज़िंदगी है आम दरबार।
जहाँ आती है मुझे लाज,
वहाँ शर्मिंदा है मानवों का सारा समाज।
और अगर तू है पूर्णता का अवतार,
तो आ मेरे सिर पर विराज,

ले मेरा सौ-सौ नमस्कार,
गो ऐसे दावे होते हैं निराधार।

मेरे हमदम,
मेरे दोस्त,
मेरे साथी,
मेरे मीत,
तुम किसीको उठाने में असमर्थ;
गिराने में ही कमाओ नाम।
बैठा नहीं जाता बेकार;
जाओगे ऊब,
नद्दी में डूब,
दे न दो कहीं अपनी जान।
अच्छाई नहीं की जाती,
बुराई ही करो—ख़ूब।
छिछले ऊपर,
खोखले भीतर,
तुम हो मेरी दया के पात्र,
अपने में क्या है जो तुम करो किसीको दान!
बहुत बड़ा कलेजा चाहिए
किसीका करने को सम्मान,
और किसीकी कमज़ोरियों का आदर—
यह है फ़रिश्तों के बूते की बात,
देवताओं का काम!

शैल विहंगिनी

मत डरो,
ओ शैल की
सुंदर, मुखर, सुखकर
विहंगिनि !
मैं पकड़ने को तुम्हें आता नहीं हूँ,
जाल फैलाता नहीं हूँ,
पींजरे में डाल तुमको
साथ ले जाना नहीं मैं चाहता हूँ,
और करना बंद ऐसे पींजरे में
बंद हम जिसमें स्वयं हैं—
ईंट-पत्थर का बना वह पींजरा
जिसको कि हमने
नाम घर का दे दिया है;
और बाहर की तरोताज़ा हवाओं,
और बाहर के तरल, निर्मल प्रवाहों,
औ' खुले आकाश के अविरल इशारों,
या कहूँ संक्षेप में तो,
प्रकृति के बहु राग-रस-रंगी प्रभावों से
अलग हमने किया है।

जानता मैं हूँ
परों पर जो तुम्हारे
खेलती रंगीनियाँ हैं,
वे कहाँ से आ रही हैं—
गगन की किरणावली से,
धरणि की कुसुमावली से,
पवन की अलकावली से—
औ' दरोदीवार के जो पींजरे हैं
बंद उसमें ये किए जाते नहीं हैं।

भूल मुझको एक
आई याद
यौवन के प्रथम पागल दिनों की।
एक तुम-सी थी विहंगिन
मैं जिसे फुसला-फँसाकर
ले गया था पींजरे में—
"जानती तू है नहीं
मैं जन्मना कवि ?
रवि जहाँ जाता नहीं है
खेल में जाता वहाँ मैं।
कौन सी ऐसी किरण है,
किस जगह है,
जो कि मेरे एक ही संकेत पर
सब मान-लज्जा

कर निछावर,
मुसकरा कर
मैं जहाँ चाहूँ वहाँ पर
वह बिखर जाती नहीं है ?
कौन सा ऐसा कुसुम है,
किस जगह है—
भूमि तल पर
या कि नंदन वाटिका में—
जो कि मेरी कल्पनाओं की उँगलियों के
परस पर विहँस
झर जाता नहीं है ?
कौन सी मधु गंध है
चंपा, चमेली और बेला की
लटों में,
या कि रंभा-मेनका-सी
अप्सराओं के
लहरधर कुंतलों में,
जो कि मेरी
भावनाओं से लिपटकर
आ नहीं सकती वहाँ पर
ला जहाँ पर
मैं उसे चाहूँ बसाना ?"

बात मेरी सुन हँसी वह

शव्द-जालों में फँसी वह।
पींजरे में डाल उसको
गीत किरणों के,
कुसुम के,
औ' सुरभि के
अनगिनत मैंने लिखे
उसके लिए, पर
गंध-रस भीनी हुई रंगीनियाँ
उड़ती गईं उसकी निरंतर!

'स्वप्न मेरे,
बोलते क्यों तुम नहीं हो?
क्या मुझे धोखा रहे देते
बराबर?'
और वे बोले कि
'पागल,
मानवी स्वर-साँस के
आकार जो हम,
पत्र, स्याही, लेखनी का
ले त्रिगुण आधार,
पुस्तक-पींजरों में,
आलमारी के घरों में,
जब कि होते बंद
रहते अंत में क्या?—

काले हर्फ़,
काले ख़त-खचीने !
और तू लाया जिसे है
वह प्रकृति की कोख से जन्मी,
प्रकृति की गोद में पलती,
प्रकृति के रंग में ढलती रही है ।'

स्वप्न से शृंगार करने के लिए
लाया जिसे था,
अब उसीके वास्ते
एकत्र करता
सौ तरह के मैं प्रसाधन !
किंतु उनसे
गंध-रस भीनी हुई
रंगीनियाँ कब लौटती हैं ?

स्वप्न की सीमा हुई मालूम;
कवि भी,
ग़ल्तियों से सीखते हैं ।
स्वप्न अपने वास्ते हैं,
स्वप्न अपने प्राण-मन को
गुदगुदाने के लिए हैं,
स्वप्न अपने को भ्रमाने,

भूल जाने के लिए हैं।
फूल कब वे हैं खिलाते ?
रश्मि कब सोती जगाते ?
और कब वे
गंध का घूँघट उठाते ?
तोड़ते दीवार कब वे ?
खोलते हैं
पींजरों का द्वार कब वे ?

मैं पुरानी भूल
दुहराने नहीं फिर जा रहा हूँ।
मत डरो,
ओ शैल की
सुंदर, मुखर, सुखकर
विहंगिनि !
मैं पकड़ने को तुम्हें आता नहीं हूँ।
पींजरे के बीच फुसलाता नहीं हूँ।

जानता हूँ मैं
स्वरों में जो तुम्हारे
रूप लेते राग
वे आते कहाँ से—
बादलों के गर्जनों से,
बात करते तरु-दलों से,

साँस लेते निर्झरों से—
औ' दरोदीवार के जो दायरे हैं
बंद उसमें ये किए जाते नहीं हैं।
किन्तु मैंने
उस दिवस उन्माद में
अपनी विहंगिन से कहा था—
"क्या कभी तूने हृदय का देश देखा ?
भाव
जब उसमें उमँडते,
घुमँडते, घिरते,
झराझर नयन झरते,
तब जलद महसूस करते
फ़र्क़ पानी,
सोम रस का।
प्यार,
सारे बंधनों को तोड़,
उर के द्वार सारे खोल,
आपा छोड़,
कातर, विवश, अर्पित,
द्रवित अंतर्दाह से
है बोलता जब,
उस समय कांतार
अपनी मरमराहट की
निरर्थकता समझकर

शर्म से है सिर झुकाता ।
दो हृदय के
बीच की असमर्थता बन
वासना जब साँस लेती,
और आँधी-सी
उड़ाकर दो तृणों को
साथ ले जाती
विसुधि-विस्मृति-विजन में,
उस समय निर्झर समझता है
कि क्या है ज़िंदगी,
क्या साँस गिनना।"

और ऐसे भाव,
ऐसे प्यार,
ऐसी वासना का
स्वप्न ज्वालामय दिखाकर
मैं उसे लाया बनाकर बंदिनी
कुछ ईंट औ' कुछ तीलियों की।
किंतु उसके आगमन के
साथ ही ऐसा लगा,
कुछ हट गया,
कुछ दब गया,
कुछ थम गया,
जैसे कि सहसा

साँस लेते निर्झरों से—
औ' दरोदीवार के जो दायरे हैं
बंद उसमें ये किए जाते नहीं हैं।
किन्तु मैंने
उस दिवस उन्माद में
अपनी विहंगिन से कहा था—
    "क्या कभी तूने हृदय का देश देखा ?
भाव
जब उसमें उमँडते,
घुमँडते, घिरते,
झराझर नयन झरते,
तब जलद महसूस करते
फ़र्क़ पानी,
सोम रस का।
प्यार,
सारे बंधनों को तोड़,
उर के द्वार सारे खोल,
आपा छोड़,
कातर, विवश, अर्पित,
द्रवित अंतर्दाह से
है बोलता जब,
उस समय कांतार
अपनी मरमराहट की
निरर्थकता समझकर

शर्म से है सिर झुकाता।
दो हृदय के
बीच की असमर्थता बन
वासना जब साँस लेती,
और आँधी-सी
उड़ाकर दो तृणों को
साथ ले जाती
विसुधि-विस्मृति-विजन में,
उस समय निर्झर समझता है
कि क्या है ज़िंदगी,
क्या साँस गिनना।"

और ऐसे भाव,
ऐसे प्यार,
ऐसी वासना का
स्वप्न ज्वालामय दिखाकर
मैं उसे लाया बनाकर बंदिनी
कुछ ईंट औ' कुछ तीलियों की।
किंतु उसके आगमन के
साथ ही ऐसा लगा,
कुछ हट गया,
कुछ दब गया,
कुछ थम गया,
जैसे कि सहसा

साँस लेते निर्झरों से—
औ' दरोदीवार के जो दायरे हैं
बंद उसमें ये किए जाते नहीं हैं।
किन्तु मैंने
उस दिवस उन्माद में
अपनी विहंगिन से कहा था—
"क्या कभी तूने हृदय का देश देखा ?
भाव
जब उसमें उमँडते,
घुमँडते, घिरते,
झराझर नयन झरते,
तब जलद महसूस करते
फ़र्क़ पानी,
सोम रस का।
प्यार,
सारे बंधनों को तोड़,
उर के द्वार सारे खोल,
आपा छोड़,
कातर, विवश, अर्पित,
द्रवित अंतर्दाह से
है बोलता जब,
उस समय कांतार
अपनी मरमराहट की
निरर्थकता समझकर

शर्म से है सिर झुकाता।
दो हृदय के
बीच की असमर्थता बन
वासना जब साँस लेती,
और आँधी-सी
उड़ाकर दो तृणों को
साथ ले जाती
विसुधि-विस्मृति-विजन में,
उस समय निर्झर समझता है
कि क्या है ज़िंदगी,
क्या साँस गिनना।"

और ऐसे भाव,
ऐसे प्यार,
ऐसी वासना का
स्वप्न ज्वालामय दिखाकर
मैं उसे लाया बनाकर बंदिनी
कुछ ईंट औ' कुछ तीलियों की।
किंतु उसके आगमन के
साथ ही ऐसा लगा,
कुछ हट गया,
कुछ दब गया,
कुछ थम गया,
जैसे कि सहसा

आग मन की बुझ गई हो ।
पर बुझी भी आग में
कुछ ताप रहता,
राख में भी फूँकने से
कुछ धुआँ तो है निकलता ।

भाव बंदी हो गया,
वह तो नदी है ।
बाढ़ में उसके बहा जो
डूबता है ।
(या कि पाता पार, पर
इसका उठाए कौन ख़तरा ।)
किन्तु भरता गागरी जो
वह नहाता या बुझाता प्यास अपनी ।
प्यार बंदी हो गया;
वह तो अनल है ।
जो पड़ा उसकी लपट में
राख होता ।
(या कि कुंदन बन चमकता,
पर उठाए कौन ख़तरा ।)
जो अँगीठी में जुगा लेता उसे,
व्यंजन बनाता,
तापता,
घर गर्म रखता ।

आग मन की बुझ गई हो ।
पर बुझी भी आग में
कुछ ताप रहता,
राख में भी फूँकने से
कुछ धुआँ तो है निकलता ।

भाव बंदी हो गया,
वह तो नदी है ।
बाढ़ में उसके बहा जो
डूबता है ।
(या कि पाता पार, पर
इसका उठाए कौन खतरा ।)
किंतु भरता गागरी जो
वह नहाता या बुझाता प्यास अपनी ।
प्यार बंदी हो गया;
वह तो अनल है ।
जो पड़ा उसकी लपट में
राख होता ।
(या कि कुंदन बन चमकता,
पर उठाए कौन खतरा ।)
जो अँगीठी में जुगा लेता उसे,
व्यंजन बनाता,
तापता,
घर गर्म रखता ।

वासना बंदी हुई,
बस काम उसका रह गया भरती-पिचकती
चाम की जड़ धौंकनी का।

बंदिनी की प्रीति बंदी हो गई,
सब रीति बंदी हो गई,
सब गीत बंदी हो गए,
वे बन गए केवल नक़ल,
केवल प्रतिध्वनि,
उन स्वरों के,
जो कि उठते सब घरों से,
बोलते सब लोग जिनमें,
डोलते सब लोग जिनपर,
डूबते सब लोग जिनके बीच
औ' जिनसे उभरने का
नहीं हैं नाम लेते !
मत डरो,
ओ शैल की
सुंदर, मुखर, सुखकर
विहंगिनि,
मैं पकड़ने को तुम्हें आता नहीं हूँ।
मैं पुरानी भूल
दुहराने नहीं फिर जा रहा;
स्वच्छंदिनी, तुम

गगन की किरणावली से,
धरणि की कुसुमावली से,
पवन की अलकावली से
रंग खींचो।
बादलों के गर्जनों से,
बात करते तरु-दलों से,
साँस लेते निर्झरों से
राग सीखो।
और कवि के
शब्द-जालों,
सब्ज़ बाग़ों से
कभी धोखा न खाओ।
नीड़ बिजली की लताओं पर बनाओ
इंद्रधनु के गीत गाओ।

पपीहा
है बड़ा अद्भुत विहंगम ।
यह कहीं घूमे,
गगन, गिरि, घाटियों में,
घन तराई में, खुले मैदान,
खेतों में, हरे-सूखे,
समुंदर तीर,
नदियों के कछारे,
निर्झरों के तट,
सरोवर के किनारे,
बाग़, बंजर, बस्तियों पर,
उच्च प्रासादों
कि नीचे छप्परों पर;
यह कहीं घूमे, उड़े,
चारा चुगे,
नारा लगाए
पी-कहाँ का,
पर बनाता
घोंसला अपना सदा यह,
भावनाओं के जुटा खर-पात,
केवल मानवों की छातियों में ।

मैं धरणि की धूलि से निर्मित,
धरणि की धूलि में लिपटा,

सना,
पागल बना-सा,
प्यास अपनी
शांत करने के लिए क्यों
छानता आकाश रहता ?
(भमि की करता अवज्ञा
तीन-चौथाई सलिल से
जो ढकी है।)
हाथ क्या आता ?
हँसी अपनी कराता।
क्यों परिधि अपनी
नहीं पहचान पाता ?

साफ़ है,
पापी पपीहे ने
लगाया घोंसला मेरे हृदय में।

बहुत समझाया
उसे मैंने,
न पी की बोल बोली,
किंतु दीवाना
न माना;
एक दिन मैंने मरोड़े
पंख उसके,

तोड़ दी गर्दन,
बहुत वह फड़फड़ाया,
बच न पाया।
किंतु, मरते वक़्त
इतना कह गया :
किसने मुझे मारा,
मरा भी मैं कहाँ,
मैं तो तुम्हारे
प्राण की ही हूँ प्रतिध्वनि,
वह जहाँ मुखरित हुआ,
मैं फिर जिया।

शून्य कोई भी जगह
रहने नहीं पाती
बहुत दिन इस जगत में।
जिस जगह पर
था पपीहे का बसेरा,
अब वहाँ पर
चील-कौए ने
लिया है डाल डेरा।
संकुचित उनकी निगाहें
सिर्फ़ नीचे को
लगी रहतीं निरंतर।
कुछ नहीं वे

माँगते या जाँचते
ऐसा कि जो
उनके परों से
नप न पाए,
तुल न पाए,
ढक न जाए।
और, मँडलाते
बना छोटी परिधि ऐसी
कि उसके बीच
सीमित, संकुचित, संपुटित
मेरा प्राण
घुटता जा रहा है।
और, मुझको
देखते वे इस तरह,
जैसे कि मैं
आहार उनका छोड़कर
कुछ भी नहीं हूँ।
और मुझमें
अब नहीं ताक़त
कि उनकी गर्दनों को तोड़ दूँ मैं,
याकि उनके पर मरोड़ूँ।
पर लिए अरमान हूँ मैं :
फिर पपीहा लौट आए,
फिर असंभव प्यास

तोड़ दी गर्दन,
वहुत वह फड़फड़ाया,
बच न पाया।
किंतु, मरते वक़्त
इतना कह गया:
किसने मुझे मारा,
मरा भी मैं कहाँ,
मैं तो तुम्हारे
प्राण की ही हूँ प्रतिध्वनि,
वह जहाँ मुखरित हुआ,
मैं फिर जिया।

शून्य कोई भी जगह
रहने नहीं पाती
बहुत दिन इस जगत में।
जिस जगह पर
था पपीहे का बसेरा,
अब वहाँ पर
चील-कौए ने
लिया है डाल डेरा।
संकुचित उनकी निगाहें
सिर्फ़ नीचे को
लगी रहतीं निरंतर।
कुछ नहीं वे

माँगते या जाँचते
ऐसा कि जो
उनके परों से
नप न पाए,
तुल न पाए,
ढक न जाए।
और, मँडलाते
बना छोटी परिधि ऐसी
कि उसके बीच
सीमित, संकुचित, संपुटित
मेरा प्राण
घुटता जा रहा है।
और, मुझको
देखते वे इस तरह,
जैसे कि मैं
आहार उनका छोड़कर
कुछ भी नहीं हूँ।
और मुझमें
अब नहीं ताक़त
कि उनकी गर्दनों को तोड़ दूँ मैं,
याकि उनके पर मरोड़ूँ।
पर लिए अरमान हूँ मैं :
फिर पपीहा लौट आए,
फिर असंभव प्यास

तोड़ दी गर्दन,
बहुत वह फड़फड़ाया,
बच न पाया।
किंतु, मरते वक़्त
इतना कह गया :
किसने मुझे मारा,
मरा भी मैं कहाँ,
मैं तो तुम्हारे
प्राण की ही हूँ प्रतिध्वनि,
वह जहाँ मुखरित हुआ,
मैं फिर जिया।

शून्य कोई भी जगह
रहने नहीं पाती
बहुत दिन इस जगत में।
जिस जगह पर
था पपीहे का बसेरा,
अब वहाँ पर
चील-कौए ने
लिया है डाल डेरा।
संकुचित उनकी निगाहें
सिर्फ़ नीचे को
लगी रहतीं निरंतर।
कुछ नहीं वे

माँगते या जाँचते
ऐसा कि जो
उनके परों से
नप न पाए,
तुल न पाए,
ढक न जाए।
और, मँडलाते
बना छोटी परिधि ऐसी
कि उसके बीच
सीमित, संकुचित, संपुटित
मेरा प्राण
घुटता जा रहा है ।
और, मुझको
देखते वे इस तरह,
जैसे कि मैं
आहार उनका छोड़कर
कुछ भी नहीं हूँ ।
और मुझमें
अब नहीं ताक़त
कि उनकी गर्दनों को तोड़ दूँ मैं,
याकि उनके पर मरोड़ूँ ।
पर लिए अरमान हूँ मैं :
फिर पपीहा लौट आए,
फिर असंभव प्यास

प्राणों में जगाए,
फिर अखंड-अनंत नभ के बीच
ले जाकर भ्रमाए,
फिर प्रतीक्षा,
फिर अमर विश्वास के
वह गीत गाए,
पी-कहाँ की रट लगाए;
काल से संग्राम,
जग के हास,
जीवन की निराशा
के लिए तैयार
फिर होना सिखाए।

पालना उर में
पपीहे का कठिन है,
चील-कौए का, कठिनतर,
पर कठिनतम
रक्त, मज्जा,
मांस अपना
चील-कौए को खिलाना,
साथ पानी
स्वप्न स्वाती का
पपीहे को पिलाना।
और, अपने को

विभाजित इस तरह करना
कि दोनों अंग
रहकर संग भी
बिलकुल अलग,
विपरीत बिलकुल,
शत्रु आपस में
बने हों।

तुम अगर इंसान हो तो
इस विभाजन,
इस लड़ाई
से अपरिचित हो नहीं तुम।
धृष्टता हो माफ़,
मैंने जो तुम्हारी,
या कि अपनी डायरी से
पंक्तियाँ कुछ आज
उद्धृत कीं यहाँ पर।

प्राणों में जगाए,
फिर अखंड-अनंत नभ के बीच
ले जाकर भ्रमाए,
फिर प्रतीक्षा,
फिर अमर विश्वास के
वह गीत गाए,
पी-कहाँ की रट लगाए;
काल से संग्राम,
जग के हास,
जीवन की निराशा
के लिए तैयार
फिर होना सिखाए।

पालना उर में
पपीहे का कठिन है,
चील-कौए का, कठिनतर,
पर कठिनतम
रक्त, मज्जा,
मांस अपना
चील-कौए को खिलाना,
साथ पानी
स्वप्न स्वाती का
पपीहे को पिलाना।
और, अपने को

विभाजित इस तरह करना
कि दोनों अंग
रहकर संग भी
बिलकुल अलग,
विपरीत बिलकुल,
शत्रु आपस में
बने हों।

तुम अगर इंसान हो तो
इस विभाजन,
इस लड़ाई
से अपरिचित हो नहीं तुम।
धृष्टता हो माफ़,
मैंने जो तुम्हारी,
या कि अपनी डायरी से
पंक्तियाँ कुछ आज
उद्धृत कीं यहाँ पर।

चोटी की बरफ़

स्फटिक-निर्मल
और दर्पण-स्वच्छ,
हे हिम-खंड, शीतल औ' समुज्ज्वल,
तुम चमकते इस तरह हो,
चाँदनी जैसे जमी है
या गला चाँदी
तुम्हारे रूप में ढाली गई है ।

स्फटिक-निर्मल
और दर्पण-स्वच्छ,
हे हिम-खंड, शीतल औ' समुज्ज्वल,
जब तलक गल-पिघल,
नीचे को ढलककर
तुम न मिट्टी से मिलोगे,
तब तलक तुम
तृण हरित बन,
व्यक्त धरती का नहीं रोमांच
हरगिज़ कर सकोगे,
औ' न उसके हास बन

चोटी की बरफ़

स्फटिक-निर्मल
और दर्पण-स्वच्छ,
हे हिम-खंड, शीतल औ' समुज्ज्वल,
तुम चमकते इस तरह हो,
चाँदनी जैसे जमी है
या गला चाँदी
तुम्हारे रूप में ढाली गई है ।

स्फटिक-निर्मल
और दर्पण-स्वच्छ,
हे हिम-खंड, शीतल औ' समुज्ज्वल,
जब तलक गल-पिघल,
नीचे को ढलककर
तुम न मिट्टी से मिलोगे,
तब तलक तुम
तृण हरित बन,
व्यक्त धरती का नहीं रोमांच
हरगिज़ कर सकोगे,
औ' न उसके हास बन

रंगीन कलियों
और फूलों में खिलोगे,
औ' न उसकी वेदना के अश्रु बनकर
प्रात पलकों में पँखुरियों के पलोगे ।
        जड़ सुयश,
निर्जीव कीर्ति कलाप
औ' मुर्दा विशेषण का
तुम्हें अभिमान,
तो आदर्श तुम मेरे नहीं हो ।

        पंकमय,
सकलंक मैं,
मिट्टी लिए मैं अंक में—
मिट्टी,
कि जो गाती,
कि जो रोती,
कि जो है जागती-सोती,
कि जो है पाप में धँसती,
कि जो है पाप को धोती,
कि जो पल-पल बदलती है,
कि जिसमें ज़िंदगी की गत मचलती है ।

        तुम्हें लेकिन गुमान—
ली समय ने
साँस पहली

जिस दिवस से
तुम चमकते आ रहे हो
स्फटिक-दर्पण के समान।
मूढ़, तुमने कब दिया है इम्तहान ?
जो विधाता ने दिया था फेंक
गुण वह एक
हाथों दाब,
छाती से सटाए
तुम सदा से हो चले आए,
तुम्हारा बस यही आख्यान !
उसका क्या किया उपयोग तुमने ?
भोग तुमने ?
प्रश्न पूछा जायगा, सोचा जवाब ?
उतर आओ
और मिट्टी में सनो,
जिंदा बनो,
यह कोढ़ छोड़ो,
रंग लाओ,
खिलखिलाओ,
महमहाओ।
तोड़ते हैं प्रेयसी-प्रियतम तुम्हें ?
सौभाग्य समझो,
हाथ आओ,
साथ जाओ।

युग का जुआ

युग के युवा,
मत देख दाएँ,
और बाएँ, और पीछे,
झाँक मत बग़लें,
न अपनी आँख कर नीचे;
अगर कुछ देखना है,
देख अपने वे
वृषभ कंधे
जिन्हें देता निमंत्रण
सामने तेरे पड़ा
युग का जुआ,
युग के युवा !

तुझको अगर कुछ देखना है,
देख दुर्गम और गहरी
घाटियाँ
जिनमें करोड़ों संकटों के
बीच में फँसता, निकलता
यह शकट

बढ़ता हुआ
पहुँचा यहाँ है।

दोपहर की धूप में
कुछ चमचमाता-सा
दिखाई दे रहा है
घाटियों में।
यह नहीं जल,
यह नहीं हिम-खंड शीतल,
यह नहीं है संगमरमर,
यह न चाँदी, यह न सोना,
यह न कोई बेशक़ीमत धातु निर्मल।

देख इनकी ओर,
माथे को झुका,
ये कीर्ति-उज्ज्वल
पूज्य तेरे पूर्वजों की
अस्थियाँ हैं।
आज भी उनके
पराक्रमपूर्ण कंधों का
महाभारत
लिखा युग के जुए पर।
आज भी ये अस्थियाँ
मुर्दा नहीं हैं;

बोलती हैं :
"जो शकट हम
घाटियों से
ठेलकर लाए यहाँ तक,
अब हमारे वंशजों की
आन
उसको खींच ऊपर को चढ़ाएँ
चोटियों तक।"

गूँजती तेरी शिराओं में
गिरा गंभीर यदि यह,
प्रतिध्वनित होता अगर है
नाद नर इन अस्थियों का
आज तेरी हड्डियों में,
तो न डर,
युग के युवा,
मत देख दाएँ
और बाएँ और पीछे,
झाँक मत बग़लें,
न अपनी आँख कर नीचे;
अगर कुछ देखना है
देख अपने वे
वृषभ कंधे
जिन्हें देता चुनौती

सामने तेरे पड़ा
युग का जुआ ।
इसको तमककर तक,
हुमककर ले उठा,
युग के युवा !

लेकिन ठहर,
यह बहुत लंबा,
बहुत मेहनत औ' मशक़्क़त
माँगनेवाला सफ़र है ।
तै तुझे करना अगर है
तो तुझे
होगा लगाना
ज़ोर एड़ी और चोटी का बराबर,
औ' बढ़ाना
क़दम, दम से साध सीना,
और करना एक
लोहू से पसीना ।
मौन भी रहना पड़ेगा,
बोलने से
प्राण का बल
क्षीण होता;
शब्द केवल झाग बन
घुटता रहेगा, बंद मुख में ।

फूलती साँसें
कहाँ पहचानती हैं
फूल-कलियों की सुरभि को
लक्ष्य के ऊपर
जड़ी आँखें
भला कब देख पातीं
साज धरती का,
सजीलापन गगन का।

वत्स,
आ तेरे गले में
एक घंटी बाँध दूँ मैं,
जो परिश्रम
के मधुरतम
कंठ का संगीत बनकर
प्राण-मन पुलकित करे
तेरा निरंतर;
और जिसकी
क्लांत औ' एकांत ध्वनि
तेरे कठिन संघर्ष की
बनकर कहानी
गूँजती जाए
पहाड़ी छातियों में।
अलविदा,

युग के युवा,
अपने गले में डाल तू
युग का जुआ;
इसको समझ जयमाल तू;
कवि की दुआ !

चाँद और बिजली की रोशनी

मैंने देखा था,
तुमने भी तो देखा था,
जब चाँद हमारे घर के अंदर आया था,
जब सचमुच चाँद हमारे घर में आया था।

बिजलीघर का
कुछ ऐसा पुर्ज़ा टूटा था,
सड़कें थीं पड़ी अँधेरी,
घर थे अंधकार में खड़े,
गड़ा संपूर्ण नगर था
तम में, ग़म में;
उजियाले के साथ ज़िंदगी, खुशी जुड़ी है।

हम पिछली बार
झगड़कर ऐसे अलग हुए थे,
इतना कटु-अप्रिय कहकर
थी मुझको आशा नहीं
कि तुम फिर आओगी
मेरे घर मुझसे मिलने को।
उस अंधकार ने

छिपा दिया था कुछ ऐसा
जिसके रहते
हम कभी नहीं मिल सकते थे
बेहिचक-झिझक।
तुम आईं तो
हम इस प्रकार बैठे - बोले,
जैसे हम पिछली बार लड़े थे सपने में,
जो अपने पर लज्जित होकर
है जाकर छिपा अँधेरे में,
जो धुँधला होकर
लुप्त हो गया है
अतीत के अंतर में;
जो बीत गई सो बात गई।

सहसा यह मुझको लगा
कि कोई झाँक रहा है खिड़की से।
जब दो प्रेमी
जा कहीं बैठते हैं
अपने अस्फुट शब्दों से
अपने शत-शत भावों को
मुखरित करने की कोशिश में,
सौ निर्जन हो,
कोई आ वहाँ टपकता है,
रस में विष-सा।

जिस जगह यज्ञ होता,
राक्षस आ ही जाते ।

मुड़कर देखा
कंचन का चंदा
खड़ा हुआ था खिड़की में,
तस्वीर की तरह जड़ा
चौखटे के भीतर ।
विस्मय का क्षण !
कमरे की दीवारों ने
जैसे बाहें फैला घेरा था
आकाशी कोना चंदा का !

मैंने तुमको
सहसा बाँहों में बाँध लिया;
अधरों पर चुंबन करते ही,
घटना देखो, बिजली आई ।
दो क्षीर सीकरों पर जैसे
काँजी का सागर उमड़ पड़ा ।
हम हुए अलग,
आँखों में पिछला झगड़ा
फिर हो गया सजग,
बीती थी बीत नहीं पाई ।
"ग़ल्ती की फिर से तुम्हें मिली ।"
"ग़ल्ती की फिर से तुम्हें मिला ।"

हम हुए अलग।
तब नहीं,
राक्षस अब आया था,
आना ही था।

कमरे की सिमटी दीवारें,
चंदा अंबर में चला गया,
तुम चली गईं—

बिजली को करके बंद
रहा कुछ देर खड़ा
मैं कमरे में।
अब चाँद नहीं,
चाँदनी आ रही थी अंदर;
वह व्यंग कर रही थी
अब उस अँधियारे पर
जिसमें तुमने,
जिसमें मैंने
सब कटु-अप्रिय,
सारा विषमय विसराया था !

मैंने देखा था,
तुमने भी तो देखा था,
जब चाँद हमारे घर के अंदर आया था,
जब चाँद हमारे घर से बाहर चला गया।

नीम के दो पेड़

"तुम न समझोगे,
शहर से आ रहे हो,
हम गँवारों की गँवारी बात।
शहर,
जिसमें हैं मदरसे और कालिज
ज्ञान-मद से झूमते उस्ताद जिनमें
नित नई से नई,
मोटी पुस्तकें पढ़ते, पढ़ाते,
और लड़के घोखते, रटते उन्हें नित;
ज्ञान ऐसा रत्न ही है,
जो बिना मेहनत, मशक़्क़त
मिल नहीं सकता किसीको।
फिर वहाँ विज्ञान-बिजली का उजाला
जो कि हरता बुद्धि पर छाया अँधेरा,
रात को भी दिन बनाता।
इस तरह का ज्ञान औ' विज्ञान
पच्छिम की सुनहरी सभ्यता का
क़ीमती वरदान है
जो आ तुम्हारे बड़े शहरों में

इकट्ठा हो गया है।
और तुम कहते कि यह दुर्भाग्य है जो
गाँव में पहुँचा नहीं है;
और हम अपने गँवरपन में समझते,
खैरियत है, गाँव इनसे बच गए हैं।

सहज में जो ज्ञान मिल जाए
हमारा धन वही है,
सहज में विश्वास जिसपर टिक रहे
पूँजी हमारी;
बुद्धि की आँखें हमारी बंद रहतीं;
पर हृदय का नेत्र जब-तब खोलते हम,—
और इनके बल युगों से
हम चले आए, युगों तक
हम चले जाते रहेंगे।
और यह भी है सहज विश्वास,
सहजज्ञान,
सहजनुभूति,
कारण पूछना मत।

इस तरह से है यहाँ विख्यात
मैंने यह लड़कपन में सुना था,
और मेरे बाप को भी यह लड़कपन में
बताया गया था,

बाबा लड़कपन में बड़ों से सुन चुके थे,
और अपने पुत्र को मैंने बताया है
कि तुलसीदास आए थे यहाँपर,
तीर्थ-यात्रा के लिए निकले हुए थे,
पाँव नंगे,
वृद्ध थे वे किंतु पैदल जा रहे थे,
हो गई थी रात,
ठहरे थे कुँए पर,
एक साधू की यहाँ पर झोपड़ी थी,
फलाहारी थे, धरा पर लेटते थे,
और बस्ती में कभी जाते नहीं थे,
रात से ज़्यादा कहीं रुकते नहीं थे;
उस समय वे राम का वनवास
लिखने में लगे थे।

रात बीते
उठे ब्राह्म मुहूर्त में,
नित्यक्रिया की,
चीर दाँतन जीभ छीली,
और उसके टूक दो खोंसे धरणि में;
और कुछ दिन बाद उनसे
नीम के दो पेड़ निकले,
साथ-साथ बड़े हुए,
नभ में उठे औ'

उस समय से
आज के दिन तक खड़े हैं ।"

मैं लड़कपन में
पिता के साथ
उस थल पर गया था ।
यह कथन सुनकर पिता ने
उस जगह को सिर नवाया
और कुछ संदेह से, कुछ व्यंग से
मैं मुसकराया ।

बालपन में
था अचेत, विमूढ़ इतना
गूढ़ता मैं उस कथा की
कुछ न समझा ।
किंतु अब जब
अध्ययन, अनुभव तथा संस्कार से मैं
हूँ नहीं अनभिज्ञ
तुलसी की कला से,
शक्ति से, संजीवनी से,
उस कथा को
याद करके सोचता हूँ :
हाथ जिसका छू
क़लम ने वह बहाई धार

जिसने शांत कर दी
कोटिकों के दग्ध कंठों की पिपासा,
सींच दी खेती युगों की मुर्झुराई,
औ' जिला दी एक मुर्दा जाति पूरी;
जीभ उसकी छू
अगर दो दाँतनों से
नीम के दो पेड़ निकले
तो बड़ा अचरज हुआ क्या।
और यह विश्वास
भारत के सहज भोले जनों का
भव्य तुलसी के क़लम की
दिव्य महिमा
व्यक्त करने का
कवित्व-भरा तरीक़ा।

मैं कभी दो पुत्र अपने
साथ ले उस पुण्य थल को
देखना फिर चाहता हूँ।
क्योंकि प्रायश्चित न मेरा
पूर्ण होगा
उस जगह बे सिर नवाए।
और संभव है कि मेरे पुत्र दोनों
व्यंग से, संदेह से कुछ मुसकराएँ।

दो तरह के लोग

हाँ, थके हो;
जिस तरह बैठे,
उसीसे यह लगा मुझको कि तुम
बेहद थके हो।

कमर, घुटनों पर
लगे क़ब्ज़े
अचानक पड़ गए ढीले,
गिरे तुम दो जगह से टूट
भद से भूमि पर,
बेहद थके हो।

धूलि-धूसर तन-बसन हैं,
पाँव क्षत-विक्षत,
बेवाई वेवफ़ाई से
कटी है एड़ियों पर
और तलुओं पर पड़े छाले
बताते हैं कसाले
बन, मरुस्थल, पर्वतों की

कठिन, लंबी यात्रा के।

फूलता है दम,
नहीं साँसें समातीं,
तुम न बोलो,
पर समझ सब कुछ गया मैं।

धँसी पलकों,
झुकी भौंहों,
धूलि-श्वेत बरौनियों में
छिपी आँखों की
निराशा से
मुझे यह लग रहा है,
तुम चले थे
भूमि पर
आकाशगंगा, कल्पतरु को
खोजने को !
यों न चौंको,
ज्योतिषी मुझको न समझो;
अनुभवी हूँ।

इस जगत के
रास्ते पर
जिस तरह तुम, उस तरह के

यात्रियों से
वास्ता मेरा बहुत पड़ता रहा है।
चाल से पहचानता हूँ बात मन की
और चेहरा देखकर इतिहास
जीवन का बताता;
चाहिए आँखें,
छिपा कुछ भी नहीं है।

मैं तुम्हारी खोज को
कहता बुरा कब ?
देखना सपना
उसे फिर सत्य करने के लिए
तैयार होना, यत्न करना,
स्वेद से सनना,
नहाना अश्रु से भी,
रक्त से भी—
मूल्य है सब का,
महत्ता है सभी की,
कुछ न आए हाथ तो भी।
मैं बताना
सिर्फ़ इतना चाहता हूँ,
इस तरह के लोग भी हैं,
सत्य पर जो
स्वप्न का आरोप करते

औ' उसे डिगने न देते ।
यदि तुम्हारी आन
आदर-योग्य है तो
आस्था उनकी नहीं कम आदरास्पद ।
कोस भर पर
एक बहती नदी,
कुछ उसमें नहीं अद्‌भुत, अलौकिक
तीर, धारा, धार में बहते
मछलियाँ–फेन–तिनके,
फिर किनारा ।
किंतु पूछो पास के देहात में जा
सब कहेंगे :
राम बन जाते समय
हिलकर गए थे इस नदी में ।
थी बड़ी गहरी,
गए वे जिस जगह से
उभर नीचे से हुई छिछली
कि उनको पार जाने में
न कोई कष्ट पहुँचे ।
सब जगह गहरी;
जहाँ से वे गए थे
आज भी छिछली बनी है;
पुण्य है उसमें नहाना ।
उस जगह पर घाट है

औ' घाट पर पीपल खड़ा है
लोग ऐसा मानते हैं,
देवता हैं पात-पात निवास करते,
एक को भी तोड़ने से पाप लगता,
बैठता उसके तले जो शांति पाता।
यह नदी उनके लिए आकाशगंगा
और पीपल कल्पतरु है !

बाढ़ आई,
आँधियाँ आईं
हज़ारों बार
क्या डूबा, बहा, उजड़ा न उनमें ?
किंतु वह विश्वास
ज्यों का त्यों बना है,
क्योंकि लाखों बार परखा जा चुका है,
खरा उतरा है।
चलो, आओ,
इस नदी में हिल नहाओ,
पेड़ की छाया तले होकर खड़े
उनकी सनातन
आस्था को सिर नवाओ।
यदि तुम्हारे स्वप्न फिर तुमको पुकारें,
तो न ठहरो,
तो उन्हीं की ओर जाओ।

दिल्ली के बादल

बस दिल्ली पर ही बरस न,
ओ घन कजरारे,
ओ मतवारे,
ओ मतमारे !
बस दिल्ली को ही सरस न कर,
नम, तर मत कर,
मत दिल्ली को ही हरा बना,
कलियों, कुसुमों से भरा बना,
ओ घन काले,
ओ मदढाले,
ओ मतवाले !

दिल्ली से
पूरब, पच्छिम, उत्तर, दक्खिन भी
इस बड़े देश के खेत खड़े,
इस बड़े खेत की क्यारी है,
जिनको मेहनत ने गोड़ा है,
मिट्टी का ढोंका फोड़ा है,
जिनमें श्रम-सीकर बीजों को
छितराया है,

जिनपर फैले आकाश पटल को
आशाओं से नापा है,
जिनपर करुणा की दृष्टि-वृष्टि
करने को देवी-देवों का
मुँह ताका है।
तू उनको आज निराश न कर,
तू उनको हतविश्वास न कर।
बस दिल्ली पर ही उमँड-घुमँड
मत झड़ जा,
ओ घन कजरारे,
ओ मतवारे,
ओ मतमारे!
बस दिल्ली को ही ध्वनित न कर,
बस दिल्ली का ही शून्य न हर,
दिल्ली में ही रस-राग न भर,
ओ घन काले,
ओ मदढाले,
ओ मतवाले!

दिल्ली से
पूरब, पच्छिम, उत्तर, दक्खिन भी
हैं नगर-ग्राम,
घर और झोपड़े खड़े हुए,
जिनके हर कोने में सूनापन छाया है,

जिनके दर-दीवारों ने
आँच-अँगारों का
अनगिनती झोंका खाया है;
वे भी तो इसको तरसे हैं,
उनपर बरसे रस,
राग झड़े,
कानों, प्राणों में ठंड पड़े।

तू उनको आज निराश न कर,
तू उनको आज उदास न कर।

यह है ज़रूर, मग़रूर,
यहाँ जो तू बरसा,
उसकी होगी देसी-परदेसी
छापों के ऊपर चर्चा,
पर तुझको विज्ञापन से क्या?
कब तुझको देशी-अंतरदेशी क्षेत्रों में
प्रभुता की साख जमानी है?
तू भूल न, तू
मिट्टी के खेतों का सिंचक,
तू सिर्फ़ अकिंचन पानी है।
मत व्यर्थ बरस तू
काग़ज़ पर, अख़बारों पर,
जा न्यौछावर हो
सूखे खेत कछारों पर।

तू उनको आज हताश न कर,
तू उनको हतविश्वास न कर।
बस दिल्ली पर ही गरज न,
ओ घन कजरारे,
ओ मतवारे,
ओ मतमारे !
रुख़ दिल्ली की ही ओर न कर,
बस दिल्ली में ही शोर न कर,
दिल्ली को ही रसबोर न कर,
ओ जलदानी,
ओ अभिमानी,
ओ अज्ञानी !

इस दिल्ली के
ईंटे-चूने के महलों पर, या
कंकड़, पत्थर, अलकतरे की सड़कों पर
जो पानी तू बरसाता है,
तू नहीं देखता है, अंधे,
गंदी नाली, नाले, परनालों में बहता,
वह काले, बदबूदार गटर में जाता है।
जो जल तू सूखी मिट्टी पर बरसाता है,
उसको भू का प्यासा कण-कण
करुणार्द्र स्वर्ग का अमृत सरिस
वरदान समझकर

बूँद-बूँद पी जाता है,
पीकर जैसे जी जाता है,
मन भरकर भीग नहाता है;
तू देख नहीं हर बार चुका
इसका एहसान चुकाता है,
पन्नों की पौद लगाता है,
मोती की फ़सल उठाता है,
औ' नहीं अन्न से बढ़कर कुछ
कोई धरती के ऊपर,
अंबर के नीचे उपजाता है !

हाँ, मुग़ल गार्डन
औ' उसके छोटे-मोटे
संस्करणों में
अंग्रेज़ी कलि-कुसुमों की जो रंगीनी है,
जो ख़ुशबू भीनी-भीनी है,
उसपर तू अपने
कितने अश्रु गिराएगा ।
उनको गिनती के
लोग देखकर ख़ुश हो लें,
पर दूर-दूर से उनको केवल
सूँघ-सूँघकर
देश नहीं जी पाएगा ।

तेरे नीचे,

तेरे ऊपर
जो हैं निर्भर
उनके अंदर अनुपात समझ,
उनके अंतर की बात समझ,
उनसे जब देना-लेना हो,
आवश्यकता, औक़ात समझ।
बस दिल्ली पर ही बरस न,
ओ घन कजरारे,
ओ मतवारे,
ओ मतमारे।
बस दिल्ली पर ही तू न फिसल,
बस दिल्ली पर ही तू न पिघल,
बस दिल्ली पर ही तू मत ढल,
ओ जलदानी,
ओ सैलानी
अल्पज्ञानी !

दिल्ली से
पूरब, पच्छिम, उत्तर, दक्खिन भी
इस बड़े देश के खेत पड़े हैं,
नगर-ग्राम, घर और झोपड़े आदि
खड़े हैं;
उन खेतों की हर क्यारी
तेरी धारों की अधिकारी;

सब नगर-ग्राम के कोनों को
घर-झोपड़ियों के सब दर,
सब दीवारों को
तेरे रस-रागों पर हक़ है ।
तुझमें जब तक
जल है, जोबन का पावक है,
बस दिल्ली पर ही तू न चमक,
बस दिल्ली पर ही तू न लमक,
बस दिल्ली पर ही तू न झमक,
सब ओर फैल, सब ओर बिखर,
घन कजरारे,
घन मतवारे,
घन मतमारे !
तुलसी का एक दोहरा सुन,
'मुखिया मुख सों चाहिए, खान पान को एक,
पालै पोषै सकल अँग, 'तुलसी' सहित बिबेक ।'
गुन, इसको गुन !

नागिन श्रौर देवकन्या

एक बड़ी विषही
नागिन है शापमयी
धरती की बिल में
मानव के दिल में,
जिससे यह हाल हुआ—

सुरसरि की धारा को
खोजने न जाओ तुम ।
उर की गंगोत्री से
वेदना निकलती जो,
उसकी पावनता पर
सुरधुनी सिर धुनती ।

नेत्र-जल मेरा लो,
उसको अभिषिक्त करो
अपने उच्छ्वास से,
अपने मुख-मंत्र से,
अपनी निष्ठा से, और
अपने विश्वास से ।
फिर इसको तुम छिड़को

पत्रहीन वृक्षों पर,
पुष्पहीन वृंतों पर,
तृणविहीन धरती पर,
शस्यहीन परती पर,
सूखे हुए खेतों पर,
झुलसे हुए बाग़ों पर,
मुर्झाए चेहरों पर,
नीरस लय-रागों पर,
देखोगे चमत्कार।

तुमको मालूम नहीं
डालें क्यों पत्रहीन,
पौधे क्यों पुष्पहीन,
परती क्यों शस्यहीन,
धरती क्यों मनमलीन,
उपवन क्यों श्रीविहीन,
जन-मानस क्यों उदास,
गीत-गीत, रुद्धकंठ,
राग-राग, रुद्धश्वास।

वेदना जब जगती है,
ऊपर उमगती है,
पत्र कहीं,
पुष्प कहीं,

बनकर के हिलती है, खिलती है,
दूब कहीं बनकर के बिछती है,
शस्य कहीं बनकर के झूमती,
गंध कहीं बनकर के घूमती,
हर्ष कहीं बनकर के बिखरती,
रूप कहीं बनकर के निखरती,
प्रीति कहीं बनकर के सिहरती,
गीत कहीं बनकर के गूँजती,
प्राण कहीं बेधती,
कान कहीं चूमती ।

वेदना जब जगती है,
अंदर को धँसती है,
बंधन में फँसती है,
खोल नहीं पाती है,
डोल नहीं पाती है,
बोल नहीं पाती है,
घुट-घुटकर भीतर ही भीतर
वह विष बन जाती है,
नागिन बन खाती है
जीवन के मूल बीज ।
बंध्या होती ज़मीन,
मुर्दा होता मनुष्य ।
मुर्दे भी चलते-फिरते,

पीते हैं, खाते हैं,
गीत भी गाते हैं।
फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है,
मुर्दों का गीत कभी
उठता नहीं अंबर में,
ध्वनित कभी होता नहीं
अंतर से अंतर में,
छूता नहीं
ख़ास को, न आम को,
जीता और मरता है
नाम को।

नेत्र-नीर मेरा लो,
उसको अभिषिक्त करो
अपने उच्छ्वास से,
अपने मुख-मंत्र से,
अपनी निष्ठा से और
अपने विश्वास से,
और उसे छिड़को तो
देखते ही देखते
मिट्टी की काया के
बंधन खुल जाएँगे,
वेदना विमुक्त हो
बाहर को आएगी,

नागिन यह वेष बदल
सुंदर, सुकुमार देव-कन्या बन जाएगी,
गीत नया गाएगी,
प्रीति नई पाएगी,
काल, जग, जीवन की
जीत नई लाएगी।

तीन विषयों पर एक रचना

प्रश्न

क्या जीवन है ?
क्या कविता है ?
या उँगली की खुजलाहट है ?

उत्तर

मैं कहता हूँ,
तुम सुनती हो।
तुम कहती हो,
मैं सुनता हूँ।
यह जीवन है।

अंबर कहता,
धरती सुनती।
धरती कहती,
अंबर सुनता।
यह कविता है।

कहती स्याही,
सुनता काग़ज़।
कहता काग़ज़,
सुनती स्याही।
यह उँगली की खुजलाहट है।

जीवन के पहिए के नीचे,
जीवन के पहिए के ऊपर

मैं बहुत गाता हूँ,
बहुत लिखता हूँ
कि मेरे अंदर
जो मौन है,
बंद है, बंदी है,
जो सबके लिए
और मेरे लिए भी
अज्ञात है, रहस्यपूर्ण है,
वह मुखरित हो, खुले,
स्वच्छंद हो, छंद हो,
गाए और बताए
कि वह क्या है, कौन है
जो मेरे अंदर मौन है।

मेरे दिल पर, दिमाग़ पर,
साँस पर
एक भार है—
एक पहाड़ है।

मैं लिखता हूँ तो समझो,
मैं अपने क़लम की निब से,
नोक से
उसे छेदता हूँ, भेदता हूँ,
कुरेदता हूँ,
उसपर प्रहार करता हूँ
कि वह भार घटे,
कि वह पहाड़ हटे,
कि पाप कटे
कि मैं आज़ादी से साँस लूँ,
आज़ादी से विचार करूँ,
आज़ादी से प्यार करूँ।

उधर
पत्थर है, चट्टान है, पहाड़ है,
इधर
उँगली है, लेखनी है, निब है,
लेकिन इनके पीछे—
क्या तुम्हें इसका नहीं ध्यान है ?
हाथ है,
इंसान है,
कवि है।

विहटा-दुर्घटना

उसने आँखों से देखी थी।
मैंने पूछा,
कौन
सबसे अधिक मार्मिक
दृश्य तुमने देखा था ?
याद कर वह काँप उठा,
आँखें फाड़,
साँस खींच,
बोला वह,
एक आदमी का पेट
रेल के पहिए से दबा था,
पर वह चक्के को
सड़सी-जैसे पंजों से
कसकर, पकड़कर, जकड़कर
दाँत से काट रहा था,
सारी ताक़त समेट !
दाँत जैसे सख़्त हुए
लोहे के चने चबा।
क्षण भर में हो हताश
गिरा दम तोड़कर,
लेकिन उस लोहे के पहिए पर
कुछ लकीर, कुछ निशान
छोड़कर !

और जो मैं बहुत गा चुका हूँ,
कभी अपने अंदर भी पैठता हूँ
कि देखूँ मेरे अंदर जो
मौन है, बंद है,
वह कुछ मुखरित हुआ, खुला,
तो एक आजन्म बंदी
जो अगणित ज़ंजीरों से बद्ध है,
केवल कुछ को हिलाता है,
धीमे-धीमे झनकाता है,
व्यंग्य से मुसकाता है,
मानो यह बताता है
कि इतना ही मैं स्वच्छंद हूँ,
कि इतना ही तुम्हारा छंद है !

और जो मैं बहुत लिख चुका हूँ,
न आज़ादी से प्यार कर सकता हूँ,
न विचार कर सकता हूँ,
न साँस ले सकता हूँ,
न मेरा पाप कटा है,
न मुझपर से पहाड़ हटा है,
न भार घटा है;
और जो मैंने अपने क़लम की नोक से
छेदा है, भेदा है,
कुरेदा है,

उससे मैं
पत्थर पर, चट्टान पर
सिर्फ़ कुछ लकीर लगा सका हूँ,
कुछ सूराख बना सका हूँ।

लेकिन जब तक
मेरा दम नहीं टूटता,
मैं हताश नहीं होता,
मुझसे मेरा क़लम नहीं छूटता,
मेरा सरगम नहीं छूटता।

सृष्टि की दुर्घटना है
और मेरे पेट पर
जीवन का पहिया है,
लेकिन जो मुझमें था
देव बल,
दानव बल,
मानव बल,
आत्म बल,
पशु बल—
सबको समेटकर
मैंने उसे पकड़ा है,
पंजों में जकड़ा है।

जब वह मुझसे छूट जाय,
मेरा दम टूट जाय,
पहिए पर देखना,
होगा मेरा निशान,
मेरे वज्रदंतों से
लिखा स्वाभिमान-गान !

बुद्ध और नाचघर

"बुद्धं सरणं गच्छामि,
धम्मं सरणं गच्छामि,
संघं सरणं गच्छामि ।"

बुद्ध भगवान,
जहाँ था धन, वैभव, ऐश्वर्य का भंडार,
जहाँ था पल-पल पर सुख,
जहाँ था पग-पग पर शृंगार,
जहाँ रूप, रस, यौवन की थी सदा बहार,
वहाँ पर लेकर जन्म,
वहाँ पर पल, बढ़, पाकर विकास,
कहाँ से तुममें जाग उठा
अपने चारों ओर के संसार पर
संदेह, अविश्वास ?
और अचानक एक दिन
तुमने उठा ही तो लिया
उस कनक-घट का ढक्कन,
पाया उसे विष-रस भरा ।
दूल्हन की जिसे पहनाई गई थी पोशाक,

वह तो थी सड़ी-गली लाश।
तुम रहे अवाक्,
हुए हैरान,
क्यों अपने को धोखे में रक्खे है इंसान,
क्यों वह पी रहा है विष के घूँट,
जो निकलता है फूट-फूट ?
क्या यही है सुख-साज
कि मनुष्य खुजला रहा है अपनी खाज ?

निकल गए तुम दूर देश,
वनों-पर्वतों की ओर,
खोजने उस रोग का कारण,
उस रोग का निदान।
बड़े-बड़े पंडितों को तुमने लिया थाह,
मोटे-मोटे ग्रंथों को लिया अवगाह,
सुखाया जंगलों में तन,
साधा साधना से मन,
सफल हुआ श्रम,
सफल हुआ तप,
आया प्रकाश का क्षण,
पाया तुमने ज्ञान शुद्ध,
हो गए प्रबुद्ध।

देने लगे जगह-जगह उपदेश,

जगह-जगह व्याख्यान,
देखकर तुम्हारा दिव्य वेश,
घेरने लगे तुम्हें लोग,
सुनने को नई बात
हमेशा रहता है तैयार इंसान,
कहनेवाला भले ही हो शैतान,
तुम तो थे भगवान।

जीवन है एक चुभा हुआ तीर,
छटपटाता मन, तड़फड़ाता शरीर।
सच्चाई है—सिद्ध करने की ज़रूरत है?—
पीर, पीर, पीर।
तीर को दो पहले निकाल,
किसने किया शर का संधान?—
क्यों किया शर का संधान?
किस क़िस्म का है वाण?
ये हैं बाद के सवाल।
तीर को दो पहले निकाल।

जगत है चलायमान,
बहती नदी के समान,
पार कर जाओ इसे तैरकर,
इसपर बना नहीं सकते घर।
जो कुछ है हमारे भीतर-बाहर,

दीखता-सा दुखकर-सुखकर,
वह है हमारे कर्मों का फल ।
कर्म है अटल ।
चलो मेरे मार्ग पर अगर,
उससे अलग रहना भी नहीं कठिन,
उसे वश में करना है सरल ।

अंत में, सबका है यह सार—
जीवन दुख ही दुख का है विस्तार,
दुख का इच्छा है आधार,
अगर इच्छा को लो जीत,
पा सकते हो दुखों से निस्तार,
पा सकते हो निर्वाण पुनीत ।

ध्वनित-प्रतिध्वनित
तुम्हारी वाणी से हुई आधी ज़मीन—
भारत, ब्रह्मा, लंका, स्याम,
तिब्बत, मंगोलिया, जापान, चीन—
उठ पड़े मठ, पैगोडा, बिहार,
जिनमें भिक्षुणी, भिक्षुओं की क़तार
मुँडाकर सिर, पीला चीवर धार
करने लगी प्रवेश
करती इस मंत्र का उच्चार :
"बुद्धं सरणं गच्छामि,

धम्मं सरणं गच्छामि,
संघं सरणं गच्छामि।"
कुछ दिन चलता है तेज़
हर नया प्रवाह,
मनुष्य उठा चौंक, हो गया आगाह।

वाह री मानवता,
तू भी करती है कमाल,
आया करें पीर, पैग़ंबर, आचार्य,
महंत, महात्मा हज़ार,
लाया करें अहदनामे इलहाम,
छाँटा करें अक्ल, बघारा करें ज्ञान,
दिया करें प्रवचन, वाज़,
तू एक कान से सुनती,
दूसरे से देती निकाल,
चलती है अपनी समय-सिद्ध चाल।
जहाँ हैं तेरी बस्तियाँ, तेरे बाज़ार,
तेरे लेन-देन, तेरे कमाई-ख़र्च के स्थान,
वहाँ कहाँ हैं
राम, कृष्ण, बुद्ध, मुहम्मद, ईसा के
कोई निशान।

इनकी भी अच्छी चलाई बात,
इनकी क्या बिसात,

इनमें से कोई अवतार,
कोई स्वर्ग का पूत,
कोई स्वर्ग का दूत,
ईश्वर को भी इसने नहीं रखने दिया हाथ।
इसने समझ लिया था पहले ही
ख़ुदा साबित होंगे ख़तरनाक,
अल्लाह, वबालेजान, फ़ज़ीहत,
अगर वे रहेंगे मौजूद
हर जगह, हर वक़्त।
झूठ-फ़रेब, छल-कपट, चोरी,
जारी, दग़ाबाज़ी, छीना-छोरी, सीनाज़ोरी
कहाँ फिर लेंगी पनाह;
ग़रज, कि बंद हो जायगा दुनिया का सब काम।
सोचो,
कि अगर अपनी प्रेयसी से करते हो तुम प्रेमालाप
और पहुँच जायँ तुम्हारे अब्बाजान,
तब क्या होगा तुम्हारा हाल।
तबीयत पड़ जाएगी ढीली,
नशा सब हो जाएगा क़ाफ़ूर,
एक दूसरे से हटकर दूर
देखोगे न एक दूसरे का मुँह ?
मानवता का बुरा होता हाल
अगर ईश्वर डटा रहता सब जगह, सब काल।
इसने बनवाकर मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर

ख़ुदा को कर दिया है बंद;
ये हैं ख़ुदा के जेल,
जिन्हें यह—देखो तो इसका व्यंग्य—
कहती है श्रद्धा-पूजा के स्थान ।
कहती है उनसे,
"आप यहीं करें आराम,
दुनिया जपती है आपका नाम,
मैं मिल जाऊँगी सुबह-शाम,
दिन-रात बहुत रहता है काम ।"
अल्ला पर लगा है ताला,
बंदे करें मनमानी, रँगरेल ।
वाह री दुनिया,
तूने ख़ुदा का बनाया है ख़ूब मज़ाक,
ख़ूब खेल ।

जहाँ ख़ुदा की नहीं गली दाल,
वहाँ बुद्ध की क्या चलती चाल,
वे थे मूर्ति के ख़िलाफ़,
इसने उन्हीं की बनाई मूर्ति,
वे थे पूजा के विरुद्ध,
इसने उन्हीं को दिया पूज,
उन्हें ईश्वर में था अविश्वास,
इसने उन्हीं को कह दिया भगवान,
वे आए थे फैलाने को वैराग्य,

मिटाने को सिंगार-पटार,
इसने उन्हीं को बना दिया श्रृंगार ।
बनाया उनका सुंदर आकार;
उनका बेलमुंड था शीश,
इसने लगाए बाल घूँघरदार;
और मिट्टी, लकड़ी, पत्थर, लोहा,
ताँबा, पीतल, चाँदी, सोना,
मूँगा, नीलम, पन्ना, हाथी दाँत—
सबके अंदर उन्हें डाल, तराश, खराद, निकाल
बना दिया उन्हें बाज़ार में बिकने का सामान ।
पेकिंग से शिकागो तक
कोई नहीं क्यूरियो की दूकान
जहाँ, भले ही और न हो कुछ,
बुद्ध की मूर्ति न मिले जो माँगो ।

बुद्ध भगवान,
अमीरों के ड्राइंगरूम,
रईसों के मकान
तुम्हारे चित्र, तुम्हारी मूर्ति से शोभायमान ।
पर वे हैं तुम्हारे दर्शन से अनभिज्ञ,
तुम्हारे विचारों से अनजान,
सपने में भी उन्हें इसका नहीं आता ध्यान ।
शेर की खाल, हिरन की सींग,
कला-कारीगरी के नमूनों के साथ

तुम भी हो आसीन,
लोगों की सौंदर्य-प्रियता को
देते हुए तसकीन,
इसीलिए तुमने एक की थी
आसमान-ज़मीन ?

और आज
देखा है मैंने,
एक ओर है तुम्हारी प्रतिमा
दूसरी ओर है डांसिंग हाल,
हे पशुओं पर दया के प्रचारक,
अहिंसा के अवतार,
परम विरक्त,
संयम साकार,
मची है तुम्हारे सामने रूप-यौवन की ठेल-पेल,
इच्छा और वासना खुलकर रही हैं खेल,
गाय-सुअर के गोश्त का उड़ रहा है कबाब
गिलास पर गिलास
पी जा रही है शराब,—
पिया जा रहा है पाइप, सिगरेट, सिगार,
धुआँधार,
लोग हो रहे हैं नशे में लाल ।
युवकों ने युवतियों को खींच
लिया है बाहों में भींच,

छाती और सीने आ गए हैं पास,
होठों-अधरों के बीच
शुरू हो गई है बात,
शुरू हो गया है नाच,
आर्केस्ट्रा के साज़—
ट्रंपेट, क्लैरिनेट, कारनेट—पर साथ
बज उठा है जाज़,
निकलती है आवाज़ :

"मद्यं शरणं गच्छामि,
मांसं शरणं गच्छामि,
डांसं शरणं गच्छामि।"